साहित्य माला

युद्ध और अहिंसा

महात्मा गांधी

सर्वोदय साहित्य माला
१०८ वाँ ग्रन्थ

सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली
दिल्ली : लखनऊ : इन्दौर : वर्धा : कलकत्ता : इलाहाबाद

२ अक्तूबर (गांधी-जयंती)
२००० : १९४१

मूल्य
बारह आना

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय,
मंत्री, सस्ता साहित्य मण्डल,
नई दिल्ली

मुद्रक
रामचन्द्र भारती
सरस्वती प्रेस,
दिल्ली

प्रकाशकीय

इस समय यूरोप युद्ध-दानव का रंगस्थल बना हुआ है, जिसकी गूंज से संसार के दूसरे देश आतंकित हैं। महात्मा गांधी के अहिंसा-सिद्धान्त को देश-विदेश के महान् मनीषियों ने मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है। परन्तु कई अहिंसाधर्मियों के मन में इस समय बड़ी उलझन और हलचल-सी मची हुई है; विशेषतः इस रूप में कि युद्ध के समय अहिंसा का व्यवहार्य रूप क्या हो ? प्रस्तुत संग्रह उसीके सुलझाने के लिए तैयार किया गया है।

इस ग्रंथ में तीन खण्ड हे। पहले मे वर्तमान यूरोपीय युद्ध के शुरू होने से लेकर 'हरिजन', 'हरिजन-सेवक' आदि के बन्द होने तक महात्मा गाधी ने जो उद्गार युद्ध-सम्बन्धी समस्याओं और प्रश्नों पर प्रकट किये उनका संग्रह है। दूसरे में वर्तमान् युद्ध से पूर्व की विश्व-राजनीति की उलझनो, संकटों आदि पर लिखे गये उनके लेख हैं। और तीसरे में सन् १९१४-१८ के महायुद्ध के समय उन्होंने अग्रेजों को जो सहयोग दिया उसका स्पष्टीकरण करनेवाले और उनसे पूछे गये तत्सम्बन्धी अनेक प्रश्नों के उत्तर में 'यंग इण्डिया', 'नवजीवन' आदि में छपे हुए लेख संग्रहीत किये गये हे। गांधीजी का हाल ही 'चर्खा-द्वादशी' पर सेवाग्राम में दिया हुआ अंतिम भाषण भी इसमें मे ले लिया गया है।

आशा है, युद्ध और युद्ध-काल में अहिसा किस हदतक व्यवहार्य है और अहिसा-धर्मी का क्या कर्तव्य है, इस दृष्टि को स्पष्ट करने में इस पुस्तक का अध्ययन विशेष लाभदायक होगा।

मत्री

सस्ता साहित्य मण्डल

विषय-सूची

: १ :

: २ :

: ३ :

युद्ध और अहिंसा

: १ :

वर्तमान यूरोपीय युद्ध और अहिंसा

१. समझौते का कोई प्रश्न ही नहीं
२. हेर हिटलर से अपील
३. मेरी सहानुभूति का आधार
४. पहेलियाँ
५. भारत का रुख़
६. कसौटी पर
७. वही पार लगायेगा
८. असल बात
९. अहिंसा फिर किस काम की ?
१०. हमारा कर्तव्य
११. आतङ्क
१२. हिटलरशाही से कैसे पेश आयें
१३. हरेक अंग्रेज़ के प्रति
१४. मुझे पश्चात्ताप नहीं
१५. इतना ख़राब तो नहीं
१६. नाजीवाद का नग्न रूप
१७. "निर्बल बहुमत" की कैसे रक्षा हो ?
१८. कुछ टीकाओं के उत्तर

: १ :

समझौते का कोई प्रश्न ही नहीं

जिस समय मैं दिल्ली से कालका के लिए गाड़ी पर सवार हो रहा था उस समय एक भारी भीड़ ने सद्भाव से 'महात्मा गांधी की जय !' के साथ-साथ यह भी नारा लगाया कि 'हम समझौता नहीं चाहते।' मेरा साप्ताहिक मौन था, इसलिए मैं केवल मुस्कराकर रह गया।

मेरे पास गाड़ी के पायदान पर खड़े हुए लोगों ने भी मेरी मुस्कराहट के जवाब में मुस्करा दिया और सलाह दी कि मैं वाइसराय महोदय से समझौता न करूँ। मुझे एक कांग्रेस कमेटी ने भी पत्र द्वारा ऐसी ही चेतावनी दी थी। मुझे अपनी सीमित शक्ति का ज्ञान कराने के लिए चेतावनी की जरूरत नहीं थी। दिल्ली के प्रदर्शन और कांग्रेस की चेतावनी के अतिरिक्त यह बता देना मेरा फ़र्ज है कि वाइसराय महोदय से बातचीत में क्या कहा-सुना गया ? मैं यह बात भली भाँति जानता था कि इस सम्बन्ध में कार्य समिति ने मुझे कोई आदेश नहीं दिया। मैं तार द्वारा भेजे गये निमन्त्रण को स्वीकार करके पहली गाड़ी से रवाना हो गया था। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि मेरी अदम्य और पूर्ण अहिंसा मेरे साथ थी। मैं जानता था कि राष्ट्रीय

माँग का प्रतिनिधित्व करने का मुझे अधिकार नहीं, और मैंने ऐसा किया, तो दुर्गति होगी। इतनी बात मैंने वाइसराय महोदय को भी बता दी थी। ऐसी स्थिति में मुझसे समझौता या समझौते की बातचीत का कोई सवाल ही नहीं हो सकता। मुझे यह मालूम नहीं हुआ कि उन्होंने मुझे समझौते की बातचीत के लिये बुलाया है। मैं वाइसराय महोदय के स्थान से खाली हाथ लौटा हूँ। मुझसे स्पष्ट या गुप्त कोई समझौता नहीं हुआ। अगर कोई समझौता होगा, तो वह कांग्रेस और सरकार के बीच होगा।

कांग्रेस-सम्बन्धी अपनी स्थिति को वाइसराय महोदय से स्पष्ट करते हुए मैंने उन्हें बताया कि मानवता के दृष्टिकोण से मेरी सहानुभूति ब्रिटेन और फ्रांस के साथ है। जो लंडन अबतक अभेद्य समझा गया है उसके विध्वंस होने की बात सोचते मेरा दिल दहल जाता है। जब मैंने वेस्ट मिनिस्टर ऐबी तथा उसके सम्भाव्य विध्वंस के बारे में सोचा तो मेरा दिल भर आया। मैं अधीर हो गया हूँ। हृदय के अन्दर मेरी परमात्मा से इस प्रश्न पर हमेशा लड़ाई रहती है कि वह ऐसी बातें क्यों होने देता है? मुझे अपनी अहिंसा बिलकुल नपुंसक मालूम पड़ती है। परंतु दिनभर के संघर्ष के बाद यह उत्तर मिलता है कि न तो ईश्वर ही और न मेरी अहिंसा ही नपुंसक है। चाहे मुझे अपनी कोशिश में असफलता मिले, परन्तु, पूरे विश्वास के साथ मुझे अहिंसा का प्रयोग करते ही रहना चाहिए। मैंने २३ जुलाई को एबटाबाद से, मानों इसी मानसिक व्यथा के पूर्वाभास को पाकर हेर हिटलर के पास यह पत्र भेजा था—

"मेरे मित्र मुझसे कह रहे हैं कि मानव जाति की खातिर

मैं आपको पत्र लिखूँ। लेकिन इस ख़याल से कि मेरे द्वारा भेजा गया पत्र गुस्ताख़ी में शुमार होगा, मैंने उनकी बात कुछ दिन तक न मानी। कोई शक्ति मुझसे कहती है कि मुझे विचार करना चाहिए और अपील का नतीजा कुछ भी हो, अपील मुझे करनी ही चाहिए। यह स्पष्ट है कि आप विश्व में एक ऐसे व्यक्ति हैं जो युद्ध को रोक सकते हैं। युद्ध होने पर यह सम्भव है कि मानवता क्षीण होकर बर्बरता में परिवर्तित हो जाये। क्या आप एक वस्तु के लिए, जिसे आप कितनी भी कीमती क्यों न समझते हों, यह मूल्य देंगे ही? क्या आप एक ऐसे आदमी की अपील को सुनेंगे जिसने खुद ही जान-बूझकर लड़ाई को छोड़ दिया है, परन्तु उसे काफी सफलता नहीं मिली? पत्र लिखकर आपको मैंने कष्ट दिया हो, तो मैं आशा करता हूँ कि आप मुझे क्षमा करेंगे!"

क्या ही अच्छा होता कि हेर हिटलर अब भी विवेक से काम लेते तथा तमाम समझदार आदमियों की अपील, जिनमें जर्मन भी हैं, सुनते। मैं यह स्वीकार करने के लिए तैयार नही हूँ कि विध्वंस के डर से लंडन-जैसे भारी शहरों के खाली होने की बात जर्मन लोग शाँत रहकरसोच सकते होंगे। वे शांति के साथ इस प्रकार के अपने विध्वंस की बात नहीं सोच सकते। इस मौके पर मैं भारत के स्वराज्य की बात नहीं सोच रहा हूँ। भारत में स्वराज्य जब होगा तब होगा। लेकिन जब इंग्लैण्ड और फ्रांस की हार हो गयी तथा जब उन्हें विध्वस्त जर्मनी के ऊपर फतह मिल गयी तो उसका क्या मूल्य होगा? मालूम ऐसा ही पड़ता है कि जैसे हिटलर किसी परमात्मा के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते और केवल पशुबल को ही

मानते हैं। मि० चैम्बरलेन के कथनानुसार वह बलप्रयोग के सिवा किसी युक्ति की परवा नहीं करते। ऐसी आफ़त के समय में कांग्रेसियों तथा भारत के सारे नेताओं को व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप से भारत का कर्तव्य निश्चित करना है।×

× ५ सितम्बर १९३९ को शिमला से दिया हुआ वक्तव्य।

: २ :

हेर हिटलर से अपील

"गत २४ अगस्त को लन्दन से एक बहिन ने मुझे यह तार दिया—'कृपा करके कुछ कीजिए। दुनिया आपकी रहनुमाई की राह देख रही है।' लन्दन से एक दूसरी बहिन का यह तार आज मुझे मिला—'मैं आपसे अनुरोध करती हूँ कि आपकी पशुबल में न होकर विवेक में जो अचल श्रद्धा है उसे शासकों और प्रजा के सामने अविलम्ब प्रकट करने का विचार करें।'

मैं इस सिर पर मँडरा रहे विश्व-संकट के बारे में कुछ कहने में हिचकिचा रहा था, जिसका कुछ राष्ट्रों के ही नहीं बल्कि सारी मानव-जाति के हित पर असर पड़ेगा। मेरा ऐसा ख़याल है कि मेरे शब्दों का उन लोगों पर कोई प्रभाव न पड़ेगा, जिनपर लड़ाई का छिड़ना या शान्ति का कायम रहना निर्भर है। मैं जानता हूँ कि पश्चिम के बहुत-से लोग समझते हैं कि मेरे शब्दों की वहाँ प्रतिष्ठा है। मैं चाहता हूँ कि मैं भी ऐसा समझता। चूँकि मैं ऐसा नहीं समझता, इसलिए मैं चुपचाप ईश्वर से प्रार्थना करता रहा कि वह हमें युद्ध के संकट से बचाये। लेकिन यह घोषणा करने में मुझे जरा भी हिचकिचाहट नहीं मालूम होती कि मेरा विवेक में विश्वास है। अन्याय के दमन के लिए

या झगड़ों के निपटारे के लिए अहिंसा का दूसरा नाम ही विवेक है। विवेक का अर्थ मध्यस्थ का किया हुआ किसी झगड़े का बाध्यकारी निर्णय अथवा युद्ध नहीं है। मैं अपने विश्वास पर सबसे अधिक ज़ोर यही कहकर दे सकता हूँ कि यदि मेरे देश को हिंसा के द्वारा स्वतन्त्रता मिलना सम्भव हो, तो भी मैं स्वयं उसे हिंसा से प्राप्त न करूँगा। 'तलवार से जो मिलता है वह तलवार से हर भी लिया जाता है'—इस बुद्धिमानी के बचन में मेरा विश्वास कभी नष्ट नहीं हो सकता। मेरी यह कितनी प्रबल इच्छा है कि हेर हिटलर संयुक्त राष्ट्र के राष्ट्रपति की अपील को सुनें और अपने दावे को जाँच मध्यस्थों द्वारा होने दें, जिनके चुनने में उनका उतना ही हाथ रहेगा जितना कि उन लोगों का जो उनके दावे को ठीक नहीं समझते।"×

× २६ अगस्त १६३६ को दिया गया वक्तव्य।

: ३ :

मेरी सहानुभूति का आधार

वाइसराय की मुलाक़ात के बाद मैंने जो वक्तव्य दिया, उसपर अच्छे-बुरे दोनों ही तरह के ख़यालात ज़ाहिर किये गये हैं। एक आलोचक ने उसे भावुकतापूर्ण बकवास कहा है तो दूसरे ने उसे राजनीतिज्ञतापूर्ण घोषणा बतलाया है। दोनों अतियों में बड़ा फ़र्क है। मैं समझता हूँ कि अपने-अपने दृष्टि-कोण से सभी आलोचकों का कहना ठीक है, लेकिन उसके लेखक के पूरे दृष्टिकोण से वे सभी ग़लती पर हैं। उसने तो सिर्फ अपने संतोष के लिए ही वह लिखा था। उसमें मैंने जो कुछ कहा है उसके हरेक शब्द से मैं बँधा हुआ हूँ। हरेक मानवतापूर्ण सम्मति का जो राजनीतिक महत्त्व होता है, उसके अलावा और कोई राजनीतिक महत्त्व उसका नहीं है। विचारों के पारस्परिक सम्बन्ध को नहीं रोका जा सकता।

एक सज्जन ने तो उसके ख़िलाफ़ बड़ा जोशीला पत्र मेरे पास भेजा है। उन्होंने उसका जवाब भी माँगा है। मैं उस पत्र को उद्धृत नहीं करूँगा, क्योंकि उसके कुछ अंश ख़ुद मेरी ही समझ में नहीं आये। लेकिन उसका भाव समझने में मुश्किल नहीं है। उसकी मुख्य दलील यह है—"अगर इंग्लैण्ड के पार्ल-

मेण्ट भवन और वेस्टमिनिस्टर गिर्जाघर के सर्वनाश की सम्भावना पर आप आँसू बहाते है, तो जर्मनी के प्राचीन स्मारकों के सर्वनाश की सम्भावना पर आपके आँसू क्यों नहीं निकलते ? और इंग्लैण्ड व फ्रांस से ही आप क्यों सहानुभूति रखते हैं, जर्मनी से आपको सहानुभूति क्यों नहीं है ? क्या हिटलर जर्मनी के उस पददलन का ही जवाब नहीं है, जो कि पिछले युद्ध के बाद मित्र-राष्ट्रों ने उसका किया था ? अगर आप जर्मन होते, हिटलर की सी साधन सम्पन्नता आपके पास होती, और सारी दुनिया की तरह आप भी बदला लेने के सिद्धान्त में विश्वास करते होते, तो जो हिटलर कर रहा है वही आप भी करते। नाज़ीवाद बुरा होसकता है। दरअसल वह क्या है यह हम नहीं जानते। हमें जो साहित्य मिलता है वह एक तरफ़ा है। लेकिन मैं आपसे कहता हूँ कि चैम्बरलेन और हिटलर में कोई फ़र्क नहीं है। हिटलर की जगह चैम्बरलेन होते, तो वह भी इससे भिन्न न करते। हिटलर के बारे में विशेष न जानते हुए भी उसकी चैम्बरलेन से तुलना करके उसके साथ आपने अन्याय किया है। इंग्लैण्ड ने हिन्दुस्तान में जो-कुछ किया वह क्या किसी तरह भी उससे अच्छा है, जो कि ऐसी ही परिस्थितियों में दुनिया के दूसरे हिस्सों में हिटलर ने किया है ? हिटलर तो पुराने साम्राज्यवादी इंग्लैण्ड और फ्रांस का एक बालशिष्य मात्र है। मैं समझता हूँ कि वाइसरीगल लाज में भावुकता ने आपकी बुद्धि को दबा लिया था।"

इंग्लैण्ड के कुकृत्यों का, सचाई का, ख़याल रखते हुए, मैंने जितने ज़ोरों से वर्णन किया है उतने और ज़ोरों से शायद और किसी ने नहीं किया। इसी तरह जितने प्रभावकारक

रूप में मैंने इंग्लैण्ड का विरोध किया है उतने प्रभावकारक रूप में शायद और किसी ने नहीं किया। यही नहीं बल्कि मुक़ाबले की इच्छा और शक्ति भी मुझमें ज्यों-की-त्यों बनी हुई है। लेकिन कोई वक्त बोलने और काम करने का होता है तो कोई वक़्त ऐसा भी होता है जब ख़ामोशी और अकर्मण्यता धारण करनी पड़ती है।

सत्याग्रह के कोष में कोई शत्रु नहीं है। लेकिन सत्याग्रहियों के लिए नया कोष तैयार करने की मुझे कोई इच्छा नहीं है, इसलिए मैं पुराने शब्दों का ही नये अर्थ में प्रयोग करता हूँ। सत्याग्रही अपने कहे जानेवाले शत्रु के साथ अपने मित्र जैसा ही प्रेम करता है, क्योंकि उसका कोई शत्रु नहीं होता। सत्याग्रही याने अहिंसा का उपासक होने के नाते, मुझे इंग्लैण्ड के भले की ही इच्छा करनी चाहिए। फ़िलहाल जर्मनी-सम्बन्धी मेरी इच्छाओं का कोई सवाल नहीं है। लेकिन अपने वक्तव्य के कुछ शब्दों में मैंने यह बात कही है कि विध्वस्त जर्मनी की राख पर मैं अपने देश की आज़ादी का महल खड़ा नहीं करना चाहता। जर्मनी के पुराने स्मारकों के सर्वनाश की सम्भावना से भी शायद मैं उतना ही विचलित हो जाऊँ। लेकिन हेर हिटलर को मेरी सहानुभूति की कोई ज़रूरत नहीं है। वर्तमान गुण-दोषों को देखने के लिए इंग्लैण्ड के पिछले कुकृत्यों और जर्मनी के पिछले सुकृत्यों का उल्लेख अप्रासंगिक है। सही हो या ग़लत, इस बात का कोई ख़याल न करते हुए कि इससे पहिले ऐसी ही हालतों में अन्य राष्ट्रों ने क्या किया, मैं इस निर्णय पर पहुँचा हूँ कि इस युद्ध की ज़िम्मेदारी हर हिटलर पर ही है। उनके दावे के बारे में मैं अपना कोई निर्णय नहीं देता।

यह बहुत मुमकिन है कि डानज़िग को जर्मनी में मिलाने का, अगर डानज़िग-निवासी जर्मन अपने स्वतन्त्र दर्जे को छोड़ना चाहें, उनका अधिकार असन्दिग्ध हो। यह हो सकता है कि गलियारे (कोराइडर) को अपने क़ब्ज़े में करने का उनका दावा ठीक हो। पर मेरी शिकायत तो यह है कि वह एक स्वतंत्र न्यायालय के द्वारा इस दावे की जाँच क्यों नहीं होने देते? अपने दावे का पंचों से .फैसला कराने की बात को अस्वीकार कर देने का यह कोई जवाब नहीं है कि ऐसे ज़रियों के द्वारा यह बात उठाई गई है जिनका इसमें स्वार्थ है, क्योंकि ठीक रास्ते पर आने की प्रार्थना तो कोई चोर भी अपने साथी चोर से कर सकता है। मैं समझता हूँ कि मैं यह कहने में कोई ग़लती नहीं करता कि हेर हिटलर अपनी माँग की एक निष्पक्ष न्यायालय द्वारा जाँच होने दें इसके लिए सारा संसार उत्सुक था। उन्होंने जो तरीक़ा इख़्तियार किया है उसमें उन्हें सफलता होगई तो वह उनके दावे की न्यायोचितता का सबूत नहीं होगी। वह तो इसी बात का सबूत होगी कि अभी भी मानवी मामलों में 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का न्याय ही एक बड़ी ताक़त है। साथ ही वह इस बात का भी एक और सबूत होगी कि हम मनुष्यों ने यद्यपि अपना रूप तो बदल दिया है पर पशुओं के तरीक़ों को नहीं बदला है।

मैं आशा करता हूँ कि मेरे आलोचकों को अब यह स्पष्ट होगया होगा कि इंग्लैण्ड और फ्रांस के प्रति मेरी सहानुभूति मेरे आवेश या उन्माद के प्रमाद का परिणाम नहीं है। वह तो अहिंसा के उस कभी न सूखनेवाले फव्वारे से निकली है जिसे पिछले पचास सालों से मेरा हृदय पोसता आया है। मैं यह

दावा नहीं करता कि मेरे निर्णय में कोई ग़लती नहीं हो सकती। मैं तो सिर्फ यही दावा करता हूँ कि इंग्लैण्ड और फ्रांस के प्रति मेरी जो सहानुभूति है वह युक्तियुक्त है। जिस आधार पर मेरी सहानुभूति है उसे जो लोग स्वीकार करते हैं उन्हें मैं अपना साथ देने के लिए आमंत्रित करता हूं। यह दूसरी बात है कि उसका रूप क्या होना चाहिए? अकेला तो मैं केवल प्रार्थना ही कर सकता हूँ। वाइसराय से भी मैंने यही कहा है कि युद्ध में शरीक लोगों को सर्वनाश का जो मुक़ाबला करना पड़ रहा है उसके सामने मेरी सहानुभूति का कोई ठोस मूल्य नहीं है।

हरिजन सेवक : १६ सितम्बर, १६३६

: ४ :

पहेलियाँ

एक प्रसिद्ध कांग्रेसवादी पूछते हैं :

"(१) इस युद्ध के बारे में अहिंसा से मेल खानेवाला आपका व्यक्तिगत रुख क्या है ?

(२) पिछले महायुद्ध के वक्त आपका जो रुख था वही है या उससे भिन्न ?

(३) अपनी अहिंसा के साथ आप काँग्रेस से, जिसकी नीति इस संकट में हिंसा पर आधार रखती है, कैसे सक्रिय-सम्पर्क रक्खेंगे और उसकी कैसे मदद करेंगे ?

(४) इस युद्ध का विरोध करने या उसे रोकने के लिये आपकी ऐसी ठोस तजवीज क्या है, जिसका कि आधार अहिंसा पर हो ?"

इन प्रश्नों के साथ मेरी ऊपर से दिखलाई पड़नेवाली असंगतियों या मेरी अगम्यता की लम्बी और मित्रतापूर्ण शिकायत भी है। ये दोनों ही पुरानी शिकायतें हैं, जो शिकायत करनेवालों की दृष्टि से तो बिल्कुल वाजिब हैं, पर मेरी अपनी दृष्टि से बिल्कुल ग़ैरवाजिब हैं। इसलिए अपनी शिकायत करनेवालों और मुझमें मतभेद तो होगा ही। मैं तो सिर्फ यही कहूँगा, कि जब मैं कुछ लिखता हूँ तो यह कभी नहीं सोचता कि पहले मैंने क्या कहा

था। किसी विषय पर मैं पहले जो कुछ कह चुका हूँ उससे संगत होना मेरा उद्देश नहीं है, बल्कि प्रस्तुत अवसर पर मुझे जो सत्य मालूम पड़े उसके अनुसार करना मेरा उद्देश है इसका परिणाम यह हुआ है कि मैं सत्य की ओर निरंतर बढ़ता ही गया हूँ, अपनी याददाश्त को मैंने व्यर्थ के बोझ से बचा लिया है, और इससे भी बढ़कर बात यह है कि जब कभी मुझे अपने पचास वर्ष पहले तक के लेखों की तुलना करनी पड़ी है, तो अपने ताज़ा-से-ताज़ा लेखों से उन दोनों में मुझे कोई असंगति नहीं मिली। फिर भी जो मित्र उनमें असंगति देखते हैं, उनके लिए अच्छा यह होगा कि, जबतक पुराने से ही उन्हें कोई ख़ास प्रेम न हो, वे उसी अर्थ को ग्रहण करें जो मेरे सबसे ताज़ा लेखों से निकलता हो, लेकिन चुनाव करने से पहले उन्हें यह देखने की कोशिश करनी चाहिए कि ऊपर से दिखलाई देनेवाली असंगतियों के बीच ही क्या एक मूलभूत स्थायी संगति नहीं है ?

जहाँतक मेरी अगम्यता का सवाल है, मित्रों को यह विश्वास रखना चाहिए कि अपने विचार सम्बद्ध होने पर उन्हें दबाने का प्रयत्न मैं कभी नहीं करता। अगम्यता कभी-कभी तो संक्षेप में कहने की मेरी इच्छा के कारण होती है, और कभी-कभी जिस विषय पर मुझसे राय देने के लिए कहा जाये उसके संबंध के मेरे अपने अज्ञान के कारण भी होती है।

नमूने के तौर पर इसका एक उदाहरण दूँ। एक मित्र, जिनके और मेरे बीच दुराव की कोई बात कभी नहीं रही, रोष

के बजाय क्षोभ से लिखते हैं:—

'भारत के युद्ध की अभिनय-स्थली होने पर, जो कोई अघट-नीय घटना नहीं है, क्या गांधीजी अपने देशवासियों को यह सलाह देने के लिए तैयार हैं कि शत्रु की तलवार के सामने वे अपने सीने खोल दें? कुछ समय पहले वह जो कुछ कहते उसके लिए मैं अपने को वचनबद्ध कर लेता, लेकिन अब और अधिक विश्वास मुझे नहीं रहा है।'

मैं इन्हें विश्वास दिला सकता हूँ कि अपने हाल के लेखों के बावजूद, वह मुझमें इतना विश्वास रख सकते हैं कि अब भी मैं वही सलाह दूँगा जैसी कि उन्हें आशा है, मैंने पहले दी होती या जैसी मैंने चेकों या एबीसिनियनों को दी है। मेरी अहिंसा कड़ी चीज़ की बनी हुई है। वैज्ञानिकों को सबसे मज़बूत जिस धातु का पता होगा उससे भी यह ज्यादा मज़बूत है। इतने पर भी मुझे खेद-पूर्वक इस बात का ज्ञान है कि इसे अभी इसकी असली ताक़त प्राप्त नहीं हुई है। अगर वह प्राप्त हो गयी होती, तो संसार में हिंसा की जिन अनेक घटनाओं को मैं अस-हाय होकर रोज़ देखा करता हूँ उनसे निपटने का रास्ता भगवान् मुझे सुझा देता। यह मैं धृष्टतापूर्वक नहीं बल्कि पूर्ण अहिंसा की शक्ति का कुछ ज्ञान होने के कारण कह रहा हूँ। अपनी सीमितता या कमज़ोरी को छिपाने के लिए मैं अहिंसा की शक्ति को हलका नहीं आँकने दूँगा।

अब पूर्वोक्त प्रश्नों के जवाब में कुछ पंक्तियाँ लिखता हूँ:—

(१) व्यक्तिगत रूप से मुझपर तो युद्ध की जो दहशत सवार हुई है वैसी पहले कभी नहीं हुई थी। आज मैं जितना दिल-गीर हूँ उतना पहले कभी नहीं हुआ। लेकिन इससे भी बड़े खौफ़ के कारण आज मैं वैसी स्वेच्छापूर्ण भर्ती करनेवाला सार्जेण्ट नहीं बनूँगा जैसा पिछले महायुद्ध के वक्त में बन गया था। इतने पर भी यह अजीब-सा मालूम पड़ेगा कि मेरी सहानुभूति मित्र-राष्ट्रों के ही साथ है। जो भी हो, यह युद्ध पश्चिम में विकसित प्रजातन्त्र और जिसके प्रतीक हेर हिटलर हैं उस निरंकुशता के बीच होनेवाले युद्ध का रूप धारण कर रहा है। रूस इसमें जो हिस्सा ले रहा है वह यद्यपि दुःखद है, फिर भी हमें उम्मीद करनी चाहिए कि इस अस्वाभाविक मेल से, चाहे अनजाने ही क्यों न हो, एक ऐसा सुखद हल पैदा होगा जो क्या शक्ल अख्तियार करेगा यह पहिले से कोई नहीं कह सकता। अगर मित्र-राष्ट्रों का उत्साह भंग न हो, जिसका ज़रा भी आसार नहीं है, तो इस युद्ध से सब युद्धों का अन्त हो सकता है—ऐसे भीषण रूप में तो ज़रूर ही जैसे में कि हम आज देख रहे हैं। मुझे उम्मीद है कि यद्यपि भारत, अपने आन्तरिक भेदभावों से छिन्न-भिन्न हो रहा है, तो भी वह इस इष्ट उद्देश की पूर्ति तथा अबतक की अपेक्षा शुद्ध प्रजातंत्र के प्रसार में प्रभावशाली भाग लेगा। निस्सन्देह, यह इस बात पर है कि संसार के रंगमंच पर जो सच्चा दुःखद नाटक हो रहा है उसमें कार्य-समिति अन्त में जाकर कैसा भाग लेगी? इस नाटक में हम अभिनेता और दर्शक दोनों ही हैं। मेरा मार्ग तो निश्चित

है। चाहे मैं कार्य-समिति के विनम्र मार्गदर्शक का काम करूँ, या, अगर इसी बात को बिना किसी आपत्ति के मैं कह सकूँ तो कहूँगा कि, सरकार के मार्ग-दर्शक का—मेरा मार्ग-प्रदर्शन उनमें से एक को या दोनों को अहिंसा के मार्ग पर ले जाना होगा, चाहे वह प्रगति सदा अगोचर ही क्यों न रहे। यह स्पष्ट है कि मैं किसी रास्ते पर किसी को ज़बर्दस्ती नहीं चला सकता। मैं तो सिर्फ़ उसी शक्ति का उपयोग कर सकता हूँ, जो इस अवसर के लिए ईश्वर मेरे हृदय व मस्तिष्क में देने की कृपा करें।

(२) मैं समझता हूँ कि इस प्रश्न का जवाब पहले प्रश्न के जवाब में आ गया है।

(३) अहिंसा की भाँति हिंसा के भी दर्जे होते हैं। कार्य-समिति इच्छापूर्वक अहिंसा की नीति से नहीं हटी है। सच तो यह है कि वह ईमानदारी के साथ अहिंसा के वास्तविक फलितार्थों को स्वीकार नहीं कर सकती। उसे लगा कि बहुसंख्यक कांग्रेस-जनों ने इस बात को स्पष्ट रूप से कभी भी नहीं समझा कि बाहर से आक्रमण होने पर वे अहिंसात्मक साधनों से देश की रक्षा करेंगे। सच्चे अर्थों में तो उन्होंने सिर्फ़ यही समझा है कि ब्रिटिश सरकार के ख़िलाफ़ कुल मिलाकर अहिंसा के ज़रिये वे सफल लड़ाई लड़ सकते हैं। अन्य क्षेत्रों में कांग्रेसजनों को अहिंसा के उपयोग की ऐसी शिक्षा मिली भी नहीं है। उदाहरण के लिए, साम्प्रदायिक दंगों या गुण्डेपन का अहिंसात्मक रूप से सफल मुक़ाबिला करने का निश्चित तरीक़ा उन्होंने अभी नहीं

खोज पाया है। यह दलील अन्तिम है, क्योंकि वास्तविक अनुभव पर इसका आधार है। अगर इसलिए अपने सर्वोत्तम साथियों का मैं साथ छोड़ दूँ कि अहिंसा के विस्तृत सहयोग में वे मेरा अनुसरण नहीं कर सकते, तो मैं अहिंसा का उद्देश नहीं साधूँगा। इसलिए इस विश्वास के साथ मैं उनके साथ ही रहा कि अहिंसात्मक साधन से उनका हटना बिल्कुल संकीर्ण क्षेत्र तक ही सीमित रहेगा और वह अस्थायी ही होगा।

(४) मेरे पास कोई ख़ास योजना तैयार नहीं है, क्योंकि मेरे लिये भी यह क्षेत्र नया ही है। फ़र्क सिर्फ इतना ही है कि साधनों का मुझे चुनाव नहीं करना है, चाहे मैं कार्य-समिति के सदस्यों से मन्त्रणा करूँ या वायसराय के साथ, वे साधन सदा शुद्ध अहिंसात्मक ही होने चाहिए। इसलिए जो मैं कर रहा हूँ वह खुद ही ठोस योजना का एक अङ्ग है। और बातें मुझे दिन-ब-दिन सूझती जायेंगी, जैसे कि मेरी सब योजनाओं के बारे में हमेशा हुआ है। असहयोग का प्रसिद्ध प्रस्ताव भी मेरे दिमाग में कांग्रेस-महासमिति की उस बैठक में, जो कि १६२० में कलकत्ते में हुई थी और जिसमें यह प्रस्ताव पास हुआ, कोई २४ घंटे से भी कम समय में आया, और अमली रूप में यही हाल दाण्डी-कूच का रहा। पहले सविनय भंग की नींव भी, जिसे उस वक्त निष्क्रिय प्रतिरोध का नाम दिया गया, प्रसंगवश, भारतीयों की उस सभा में पड़ी, जो इन दिनों के एशियाई-विरोधी क़ानून का मुक़ाबला करने के उपाय खोजने के उद्देश से १६०६ में जोहान्सबर्ग में हुई

थी। सभा में जब मैं गया तो उस प्रस्ताव की पहले से मुझे कोई कल्पना नहीं थी। वह तो उस सभा में ही सूझा। इस सृजन-शक्ति का भी अभी विकास हो रहा है, लेकिन फर्ज कीजिए कि ईश्वर ने मुझे पूरी शक्ति प्रदान की है, (हालाँकि वह कभी नहीं करता) तो मैं फ़ौरन अंग्रेज़ों से कहूँगा कि वे शस्त्र धर दें, अपने सब आधीन देशों को आज़ाद कर दें, 'छोटे इंग्लैंडवासी' कहलाने में ही गर्वानुभव करें और संसार के सब निरंकुशतावादियों के बुरे-से-बुरा करने पर भी उनके आगे सिर न झुकायें। तब अंग्रेज़ बिना प्रतिरोध के मरकर इतिहास में अहिंसात्मक वीरों के रूप में अमर हो जायेंगे। इसके अलावा, भारतीयों को भी मैं इस दैवी शहादत में सहयोग करने के लिए निमंत्रित करूँगा। यह कभी न टूटनेवाली ऐसी साझेदारी होगी, जो 'शत्रु' कहे जाने वालों के नहीं बल्कि उनके अपने शरीरों के खून से लिखे अक्षरों में अङ्कित हो जायेगी। लेकिन मेरे पास ऐसी सामान्य सत्ता नहीं है। अहिंसा तो धीमी प्रगतिवाला पौदा है। वह अदृश्य किंतु निश्चित रूप में बढ़ता है। और इस ख़तरे को लेकर कि मेरे बारे में भी ग़लतफ़हमी होगी, मुझे उस-और भी 'क्षीण आवाज़' के अनुसार ही काम करना चाहिए।

हरिजन सेवक : ३० दिसम्बर १९३९

: ५ :

भारत का रुख़

पिछले २७ अगस्त को, याने मूढ़तापूर्ण लड़ाई शुरू होने के ठीक पहले श्रीमती कमला देवी चट्टोपाध्याय ने मुझे लिखा था:—

"बम्बई के 'क्रानिकल' अख़बार के ज़रिये मैंने आपसे अपील की है कि आप वर्तमान स्थिति के बारे में भारत के ही नहीं बल्कि पूर्व की समस्त शोषित प्रजाओं के रुख़ को व्यक्त करें। मेरे कहने का मतलब यह नहीं है कि आप हमारी इस पुरानी स्थिति की फिर से ताईद कर दें कि इस साम्राज्यवादी युद्ध से हमारा कोई सरोकार नहीं है, बल्कि मैं चाहती हूँ कि इससे कुछ अधिक किया जाये। वर्तमान संघर्ष ख़ासकर उपनिवेशों या जिन्हें नरम शब्दों में अब प्रभावकारी क्षेत्र कहा जाता है उनकी साधारण छीना-झपटी के बारे में है। इस प्रश्न पर दुनिया के ख़याल में केवल दो रायें हैं, क्योंकि वह केवल दो ही मत सुनती है। एक तो वे लोग हैं जो पूर्वस्थिति के ही कायम रहने में विश्वास रखते हैं, और दूसरे वे हैं जो उसमें तब्दीली तो चाहते हैं पर चाहते हैं उसी आधार पर—दूसरे शब्दों में कहें तो वे लूट का फिर से

बँटवारा और शोषण का अधिकार चाहते हैं, जिसका मतलब निस्संदेह युद्ध ही है। यह तयशुदा और स्वाभाविक-सा है कि ऐसा पुनर्विभाजन सशस्त्र संघर्ष के बिना कभी नहीं हो सकता। उसके बाद उपभोग के लिए कोई रहेगा या नहीं और उपभोग के लायक कोई चीज भी रहेगी या नहीं, यह निस्सन्देह दूसरा सवाल है। लेकिन संसार मुख्यतः इन्हीं दो में बँटा हुआ है। अगर एक की बात को ठीक माना जाये, तो दूसरे की बात को भी ठीक मानना चाहिए, क्योंकि अगर इंग्लैण्ड और फ्रांस को बड़े-बड़े भू भागों और राष्ट्रों पर शासन करने का अधिकार है तो जर्मनी और इटली को भी जरूर वैसा ही अधिकार है। इंग्लैण्ड और फ्रांस का हिटलर को इससे रुकने के लिए कहना उतना ही कम न्यायोचित है जितना कि हिटलर का वह दावा जिसे कि वह अपना वाजिब हक बतलाता है।

"इस सम्बन्ध में तीसरा विचार क्या है, यह संसार मुश्किल से ही सोचता जान पड़ता है, क्योंकि वह कभी-कभी ही सुनाई पड़ता है। लेकिन वह इतना आवश्यक है कि वह व्यक्त होना ही चाहिए, क्योंकि वह उन लोगों की आवाज है जो सारे खेल में प्यादों के मानिंद हैं। असली सवाल न तो डांज़िग का है, न पोलिश कोराइडर का। सवाल तो दरअसल उस सिद्धान्त का है, जिसपर कि इस वर्तमान पश्चिमी सभ्यता का सारा दारोमदार है। और वह है निर्बलों पर शासन करने और उनका शोषण करने के लिए बलवानों की लड़ाई। इसलिए यह सब उपनिवेशों

के सारे सवाल के आसपास केन्द्रित है, और हिटलर तथा मुसोलिनी संसार को इसकी याद दिलाते कभी नहीं थकते। इंग्लैण्ड ने साम्राज्य के खतरे में होने की जो आवाज उठायी है उसका भी वस्तुत: यही कारण है। इसलिए इस सवाल से हम सभी का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

"हम, जैसी हालत है उसके वैसी ही बनी रहने के खिलाफ हैं। हम उसके खिलाफ लड़ रहे हैं, क्योंकि हम उसमें तब्दीली चाहते हैं। लेकिन युद्ध हमारा विकल्प नहीं है, क्योंकि हम यह अच्छी तरह जानते हैं कि उससे समस्या वास्तविक रूप में हल नहीं होगी। हमारे पास दूसरा विकल्प ज़रूर है और वही इस भयंकर गड़बड़ी का एक मात्र हल और भविष्य की विश्व-शांति की कुञ्जी है। उसी को मैं दुनिया के सामने पेश करना चाहती हूँ। आज वह अरण्य-रोदन के समान मालूम पड़ सकता है, मगर हम जानते हैं कि वही ऐसी आवाज है जो अन्त में कायम रहेगी और जो हाथ आज इन कवच-धारी भुजाओं के सामने बहुत कमजोर मालूम पड़ते हैं, वेही अन्त में विध्वस्त मानवता का नवनिर्माण करेंगे।

"उस आवाज को व्यक्त करने के लिए आप सबसे उपयुक्त हैं। संसार के उपनिवेशों में, मैं समझती हूँ कि भारत का आज एक खास स्थान है। इसकी नैतिक [illegible] भी है और इसमें संगठन-सम्बन्धी शक्ति भी है, जो बहुत थोड़े उपनिवेशों में होगी। दूसरे अनेक बातों में लोग इसकी ओर पथ-प्रदर्शन के लिए निहारते हैं।

ससार को वह लड़ाई की एक ऐसी ऊँची कला का प्रदर्शन भी करा चुका है, जिसके नैतिक मूल्य की किसी न किसी दिन वह जरूर क़द्र करेगा। इसलिए बिलकुल बावले और उन्मत्त संसार भारतवर्ष को यह कहना है कि म नवता को अगर बीच-बीच में होनेवाले ऐसे विनाशों से बचकर उत्पीड़ित संसार में शान्ति और स मंजस्य लाना है तो उसे आगे क़दम बढ़ाना ही पड़ेगा। जिन लोगों को इस पद्धति से इतना कष्ट उठाना पड़ा है और जो वीरता-पूर्वक उसे बदलने के लिए लड़ रहे हैं वेही पूरे विश्वास और इसके लिए आवश्यक नैतिक आधार के साथ न केवल अपनी ओर से बल्कि संसार की समस्त शोषित और पीड़ित प्रजाओं की ओर से बोल सकते हैं।"

मुझे खेद है कि 'क्रानिकल' में प्रकाशित श्रीमती कमलादेवी का पत्र मैंने नहीं देखा। मैं कोशिश तो करता हूँ, फिर भी अख-बारों को पूरी तरह नहीं पढ़ सकता! इसके बाद समय के अभाव से पत्र मेरी फाइल में रखा रहा। लेकिन मेरे ख़याल में इस देरी से पत्र के उद्देश्य में कोई अन्तर नहीं पड़ा। बल्कि मेरे लिए शायद यही ऐसा मनोवैज्ञानिक अवसर है जब मैं यह जाहिर करूँ कि भारत का रुख क्या है या क्या होना चाहिए। युद्ध करने-वाले पक्षों के उद्देश्यों का कमलादेवी ने जो विश्लेषण किया है उससे मैं सहमत हूँ। दोनों ही पक्षवाले अपने अस्तित्व और अपनी गृहीत नीतियों को आगे बढ़ाने के लिए ही लड़ रहे हैं। मगर दोनों में एक बड़ा फर्क जरूर है। मित्र-राष्ट्रों की घोषणायें

कितनी ही अपूर्ण और संदिग्धार्थ क्यों न हों, संसार ने उनका अर्थ यह किया है कि वे लोकतंत्र की रक्षा के लिए लड़ रहे हैं। जब कि हेर हिटलर जर्मन सीमा-विस्तार के लिए लड रहे हैं। हालाँकि उनसे कहा गया था कि वह अपने दावे को एक निष्पक्ष अदालतके सामने जाँच के लिए पेश करें। मगर शान्ति या समझौते के तरीके को उन्होंने उपेक्षा के साथ ठुकरा दिया और तलवार का ही रास्ता चुना। इसीलिए मित्र-राष्ट्रों के साथ मेरी सहानुभूति है। लेकिन मेरी सहानुभूति का मतलब यह हर्गिज नहीं समझना चाहिए कि मैं तलवार के न्याय का किसी भी रूप में समर्थन करता हूँ, फिर वह चाहे निश्चित रूप से ठीक बात के लिए ही क्यों न हो। वाजिब बात में तो ऐसी क्षमता होनी चाहिए कि जंगली या खूरेजी के साधनों के बजाय ठीक साधनों से उसकी रक्षा की जा सके। मनुष्य जिसे अपना हक या अधिकार समझता है उसको कायम रखने के लिए उसे खुद अपना खून बहाना चाहिए। अपने विरोधी का खून जो कि उसके 'अधिकार' पर आपत्ति करे, उसे हर्गिज नही बहाना चाहिए। कांग्रेस जिस भारत का प्रतिनिधित्व करती है वह अपने 'अधिकार' को तलवार से नहीं बल्कि अहिंसात्मक उपाय से सिद्ध करने के लिए लड़ रही है। और उसने संसार में अपना एक अद्वितीय स्थान और प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली है, यद्यपि अभी भी अपने उद्देश्य से वह दूर है—हमें आशा करनी चाहिए कि जिस स्वाधीनता का वह स्वप्न देख रहा है वह अब बहुत दूर नहीं है। उसके

अद्भुत उपाय की ओर संसार का ध्यान आकर्षित हुआ है, यह स्पष्ट है। अतः संसार को भारत से यह आशा करने का अधिकार है कि इस युद्ध में, जिसे संसार के किसी भी देश की प्रजा ने नहीं चाहा, यह आग्रह करके वह निश्चयात्मक भाग ले कि इस बार शान्ति इस तरह का मजाक न हो कि विजेता युद्ध के माल का आपस में बँटवारा कर लें और विजितों का अपमान हो। जवाहरलाल नेहरू ने, जिन्हें कि कांग्रेस की ओर से बोलने का अधिकार प्राप्त है, गौरवपूर्ण भाषा में कहा भी है कि शान्ति का मतलब उन लोगों की स्वतंत्रता होना चाहिए जिन्हें संसार की साम्राज्यवादी सत्ताओं ने गुलाम बना रखा है। मुझे इस बात की पूरी उम्मीद है कि कांग्रेस संसार को यह भी बतला सकेगी कि न्यायोचित बात की रक्षा के लिए शस्त्रास्त्र से जो शक्ति प्राप्त होती है वह इसी बात के लिए और वह भी तर्क के इससे अच्छे प्रदर्शन के साथ, अहिंसा से प्राप्त शक्ति के मुकाबिले में कुछ भी नहीं है। शस्त्रास्त्र कोई दलील नहीं दे सकते, वे तो उसका सिर्फ दिखावा ही कर सकते हैं।

हरिजन सेवक : १४ अक्तूबर, १९३९

: ६ :

कसौटी पर

कार्यसमिति के सदस्यों के साथ चर्चा करते हुए मैंने देखा कि अहिंसा शस्त्र से ब्रिटिश सरकार के खिलाफ लड़ने के आगे, उनकी अहिंसा कभी नहीं गयी। मैंने इस विश्वास को दिल में जगह दे रखी थी कि संसार की सबसे बड़ी साम्राज्यवादी सत्ता के साथ लड़ने में गत बीस बरस के अहिंसा के अमल के तर्कपूर्ण परिणाम को कांग्रेसजनों ने पहचान लिया है। लेकिन अहिंसा के जैसे बड़े-बड़े प्रयोगों में कल्पित प्रश्नों के लिए मुश्किल से ही कोई गुंजायश होती है। ऐसे प्रश्नों के उत्तर में मैं खुद कहा करता था कि जब हम वस्तुतः स्वतंत्रता हासिल कर लेंगे तभी हमें यह मालूम होगा कि हम अपनी रक्षा अहिंसात्मक तरीके से कर सकते हैं या नहीं। लेकिन आज यह प्रश्न कल्पित नहीं है। ब्रिटिश सरकार हमारे मुआफिक कोई घोषणा करे या न करे, कांग्रेस को ऐसे किसी रास्ते का निर्णय करना ही पड़ेगा, जिसे कि वह भारत पर आक्रमण होने की हालत में अख्तियार करेगी। भले ही सरकार के साथ कोई समझौता न हो, तब भी कांग्रेस को अपनी

नीति तो घोषित करनी ही होगी और उसे यह बतलाना पड़ेगा कि आक्रमण करनेवाले गिरोह का मुकाबिला वह हिंसात्मक साधनों से करेगी या अहिंसात्मक।

जहाँतक कि मैं कार्यसमिति के सदस्यों की मनोवृत्ति को खासी पूरी चर्चा के बाद, समझ सका हूँ, उसके सदस्यों का खयाल है कि अहिंसात्मक साधनों के जरिये सशस्त्र आक्रमण से देश की रक्षा करने के लिए वे तैयार नहीं है।

यह दुःखद प्रसंग है। निश्चय ही अपने घर से शत्रु को निकाल बाहर करने के लिए जो उपाय अख्तियार किये जाते हैं, वे उन उपायों से, जो कि उसे (शत्रु को) घर से बाहर रखने के लिए अख्तियार किये जायें, न्यूनाधिक रूप में मिलते-जुलते होने ही चाहिए। और यह पिछला (रक्षा का) उपाय ज्यादा आसान होना चाहिएँ। बहरहाल हकीकत यह है कि हमारी लड़ाई बलवान की अहिंसात्मक लड़ाई नहीं रही है। वह तो दुर्बल के निष्क्रिय प्रतिरोध की लड़ाई रही है। यही वजह है कि इस महत्त्व के क्षण में हमारे दिलों से अहिंसा की शक्ति में ज्वलंत श्रद्धा का कोई स्वेच्छापूर्ण उत्तर नहीं मिला है। इसलिए कार्य-समिति ने यह बुद्धिमानी की ही बात कही है कि वह इस तर्कपूर्ण कदम को उठाने के लिए तैयार नहीं है। इस स्थिति में दुःख की बात यह है कि काँग्रेस अगर उन लोगों के साथ शरीक हो जाती है, जो भारत की सशस्त्र रक्षा की आवश्यकता में विश्वास करते हैं, तो इसका यह अर्थ हुआ कि गत बीस बरस यों ही चले गये, कांग्रेसवादियों ने

सशस्त्र युद्ध-विज्ञान सीखने के प्राथमिक कर्तव्य के प्रति भारी उपेक्षा दिखायी। और मुझे भय है कि इतिहास मुझे ही, लड़ाई के सेनापति के रूप में, इस दुःखजनक बात के लिए जिम्मेदार ठहरायेगा। भविष्य का इतिहासकार कहेगा कि यह तो मुझे पहले ही देख लेना चाहिए था कि राष्ट्र बलवान की अहिंसा नहीं बल्कि केवल निर्बल का अहिंसात्मक निष्क्रिय प्रतिरोध सीख रहा है, और इसलिए, इतिहासकार के कथनानुसार, कांग्रेसजनों के लिए सैनिक शिक्षा मुझे मुहैया कर देनी चाहिए थी।

इस विचार को रखते हुए कि किसी-न-किसी तरह भारत सच्ची अहिंसा सीख लेगा, मुझे यह नहीं हुआ कि सशस्त्र रक्षा के लिए अपने सहकर्मियों से ऐसा शिक्षण लेने को कहूँ। इसके विपरीत, मैं तो तलवार की सारी कला को और मजबूत लाठियों के प्रदर्शन को अनुत्साहित ही करता रहा। और बीते के लिए मुझे आज भी पछतावा नहीं है। मेरी आज भी वही ज्वलंत श्रद्धा है कि संसार के समस्त देशों में भारत ही एक ऐसा देश है जो अहिंसा की कला सीख सकता है, और अगर अब भी वह इस कसौटी पर कसा जाये, तो संभवतः ऐसे हजारों स्त्री-पुरुष मिल जायेंगे, जो अपने उत्पीड़कों के प्रति कोई द्वेषभाव रखे बिना, खुशी से मरने के लिए तैयार हो जायेंगे। मैंने हजारों की उपस्थिति में बार-बार जोर दे-देकर कहा है कि बहुत संभव है कि उन्हें ज्यादा-से-ज्यादा तकलीफें झेलनी पड़ें, यहाँ तक कि गोलियों का भी शिकार होना पड़े। नमक-सत्याग्रह के ज़माने में क्या

हजारों पुरुषों और स्त्रियों ने किसी भी सेना के सैनिकों के ही समान बहादुरी से तरह-तरह की मुसीबतें नहीं झेलीं थीं ? हिन्दुस्तान में जो सैनिक योग्यता अहिंसात्मक लड़ाई में लोग दिखा चुके हैं उससे भिन्न प्रकार की योग्यता किसी आक्रमणकारी के खिलाफ लड़ने के लिए आवश्यक नहीं हैं—सिर्फ उसका प्रयोग एक वृहत्तर पैमाने पर करना होगा।

एक चीज़ नहीं भूलनी चाहिए। निःशस्त्र भारत के लिए यह ज़रूरी नहीं कि उसे ज़हरीली गैसों या बमों से ध्वस्त होना पड़े। मजिनेट लाइन ने सिगफ्रेड को ज़रूरी बना दिया है। मौजूदा परिस्थितियों में हिन्दुस्तान की रक्षा इसलिए ज़रूरी हो गयी है कि वह आज ब्रिटेन का एक अंग है। स्वतंत्र भारत का कोई शत्रु नहीं हो सकता। और यदि भारतवासी दृढ़तापूर्वक सिर न झुकाने की कला सीख लें और उसपर पूरा अमल करने लगें, तो मैं यह कहने की जुरत करूँगा कि हिन्दुस्तान पर कोई आक्रमण करना नहीं चाहेगा। हमारी अर्थनीति इस प्रकार की होगी कि शोषकों के लिए वह कोई प्रलोभन की वस्तु सिद्ध नहीं होगी।

लेकिन कुछ कांग्रेसजन कहेंगे कि, "ब्रिटिश की बात को दरकिनार कर दिया जाये, तब भी हिन्दुस्तान में उसके सीमान्तों पर बहुत-सी सैनिक जातियाँ रहती हैं। वे मुल्क की रक्षा के लिए जो उनका भी उतना ही है जितना कि हमारा, युद्ध करेंगी।" यह बिल्कुल सत्य है। इसलिए इस क्षण मैं केवल कांग्रेसजनों की ही बात कह रहा हूँ। आक्रमण की हालत में वे क्या करेंगे ? जब

तक कि हम अपने सिद्धान्त पर मर-मिटने के लिए तैयार न हो जायँगे, हम सारे हिन्दुस्तान को अपने मत का नहीं बना सकेंगे।

मुझे तो विरुद्ध रास्ता अपील करता है। सेना में पहले से ही उत्तर हिन्दुस्तान के मुसलमानों, सिक्खों और गोरखों की बहुत बड़ी संख्या है। अगर दक्षिण और मध्यभारत के जनसाधारण कांग्रेस का सैनिकीकरण कर देना चाहते हैं, जो उनका प्रतिनिधित्व करती है, तो उन्हें उनकी (मुसलमान, सिक्ख वग़ैरा की) प्रतिस्पर्धा में आना पड़ेगा। कांग्रेस को तब सेना का एक भारी बजट बनाने में भागीदार बनना पड़ेगा। ये सब चीजें कांग्रेस की सहमति लिए वग़ैर सम्भवतः हो जायें। सारे संसार में तब यह चर्चा का विषय बन जायगा कि कांग्रेस ऐसी चीजों में शरीक है या नहीं। संसार तो आज हिन्दुस्तान से कुछ नई और अपूर्व चीज देखने की प्रतीक्षा में है। कांग्रेस ने भी अगर वही पुराना जीर्ण-शीर्ण कवच धारण कर लिया, जिसे कि संसार आज धारण किये हुए हैं, तो उसे उस भीड़भड़क्के में कोई नहीं पहचानेगा। कांग्रेस का नाम तो आज इसलिए है कि वह सर्वोत्तम राजनीतिक शस्त्र के रूप में अहिंसा का प्रतिनिधित्व करती है। कांग्रेस अगर मित्र-राष्ट्रों को इस रूप में मदद देती है कि उसमें अहिंसा का प्रतिनिधि बनने की क्षमता है, तो वह मित्रराष्ट्रों के उद्देश्य को एक ऐसी प्रतिष्ठा और शक्ति प्रदान करेगी, जो युद्ध का अन्तिम भाग्य-निर्णय करने में अनमोल सिद्ध होगी। किन्तु कार्यसमिति के सदस्यों ने जो इस प्रकार की अहिंसा का इजहार नहीं किया, इसमें

उन्होंने ईमानदारी और बहादुरी ही दिखाई है।

इसलिए मेरी स्थिति अकेले मुझतक ही सीमित है। मुझे अब यह देखना पड़ेगा कि इस एकान्त पथ में मेरा कोई दूसरा सहयात्री है या नहीं। अगर मैं अपने को बिलकुल अकेला पाता हूँ तो मुझे दूसरों को अपने मत में मिलाने का प्रयत्न करना ही चाहिये। अकेला होऊँ, या अनेक साथ हों, मैं अपने इस विश्वास को अवश्य घोषित करूँगा कि हिन्दुस्तान के लिए यह बेहतर है कि वह अपने सीमान्तों की रक्षा के लिए भी हिंसात्मक साधनों का सर्वथा परित्याग करदे। शस्त्रीकरण की दौड़ में शामिल होना हिन्दुस्तान के लिए अपना आत्मघात करना है। भारत अगर अहिंसा को गँवा देता है, तो संसार की अन्तिम आशा पर पानी फिर जाता है। जिस सिद्धान्त का गत आधी सदी से मैं दावा करता आ रहा हूँ उस पर मैं जरूर अमल करूँगा और आखिरी साँस तक यह आशा रखूँगा कि हिन्दुस्तान अहिंसा को एक दिन अपना जीवन-सिद्धान्त बनायेगा, मानवजाति के गौरव की रक्षा करेगा और जिस स्थिति से मनुष्यने अपने को ऊँचा उठाया ख़याल किया जाता है उसमें लौटने से उसे रोकेगा।

'हरिजन-सेवक' : १४ अक्तूबर, १९३९

: ७ :

वही पार लगायेगा

"प्रिय बन्धु,

मेरा आपसे परिचय नहीं है, पर जब सन् १९३१ में आप डार्वेन (लंकाशायर) आये थे, उस समय मेरी पत्नी और मैं आपको अपना मेहमान बनानेवाले थे कि उससे कुछ ही पहले हमको बर्लिन चला जाना पड़ा। वहाँ हमने पिछले महायुद्ध के बाद भूखों मरते बच्चों में कष्ट-निवारण का काम किया था। इस बार भी हम ४॥ वर्ष जर्मनी में रहे। इससे हमें वहाँ के ताज़े हालात का खासा ज्ञान है। हमें वहाँ के बहुत-से लोगों के साथ प्रेम भी हो गया है।

इस लड़ाई के शुरू में 'हरिजन' में आपकी कुछ पंक्तियाँ पढ़कर मुझे बड़ी दिलचस्पी पैदा हुई और प्रेरणा मिली। आपने लिखा था कि, 'अगर हिंसा से मेरे देश की आज़ादी मिलती हो तो भी मैं उस क़ीमत पर उसे नहीं लूँगा। मेरा यह अटल विश्वास है कि तलवार से ली हुई चीज़ उसी तरह चली भी जाती है।' बहन अॅगाथा हैरीसन ने भी मुझे आपके कुछ लेख बताये। इनसे

मुझे युद्ध के बारे में आपका रवैया समझने में मदद मिलती है। फिर भी मेरे मन पर चिन्ता का भार है। मैं वही आपके सामने रखना चाहता हूँ।

आज-कल बहुत-से पक्के शान्ति-प्रेमियों का भी यह हाल है कि जब कभी उनके देशों की स्वतन्त्रता बुरी तरह छीनी जाती है तो वे खुद भले ही युद्ध से अलग रहें, मगर वे समझते हैं कि खोई हुई आज़ादी को वापस लेने के लिए लड़ना अनिवार्य ही नहीं, उचित भी है। क्या ऐसे वक्त में आप जैसे आध्यात्मिक नेता और ईश्वरीय दूत का यह फ़र्ज़ नहीं है कि आगे बढ़कर युद्ध न पागलपने के बजाय कोई दूसरा ऐसा रास्ता सुझायें जिससे आपस के झगड़े तो दूर हो ही सकें, बुराई का मुक़ाबिला और राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति भी हो सके? मेरी समझ में नहीं आया कि जिम उत्तम मार्ग के आप अगुआ हैं उसकी संसार के आगे घोषणा न करके आप युद्ध से पैदा हुई स्थिति से भारत की स्वतन्त्रता के हक़ में लाभ उठाने की छोटी-सी बात क्यों सोच रहे हैं! मुझे लगता है कि शायद मैं आपको समझने में ग़लती कर रहा हूँ। मैं चाहता हूँ कि परमात्मा आपके देश की शुभाशायें पूरी करे, मगर यह साम्राज्यवादी ब्रिटेन को हिंसात्मक युद्ध में मदद देकर किसी सौदे की तरह पूरी न हों, बल्कि एक नया और पहले से अच्छा जगत् निर्माण करने की योजना के सिलसिले में होनी चाहिएँ।

युद्ध की पीड़ा और निराशा से विदीर्ण होकर मेरा हृदय आप

को पुकार रहा है। मेरी तरह संसार में बहुत लोग ऐसे हैं जो इस बुराई में से समय रहते मानव जाति को मुक्त देखने के लिए तरस रहे हैं। शायद आप ही ऐसे आदमी हैं, जो हमारी मदद कर सकते हैं। कृपया विचार कीजिए।

४६, पार्लिमेंट हिल — आपका

लंडन, एन. डब्ल्यू. ३ — कॉर्डेर कैचपूल"

यह लेखक के पत्र का सार है। मैं जानता हूँ कि इसमें जो रवैया प्रगट किया गया है वही अनेक अंग्रेजों का है। वे कोई अच्छा रास्ता सुझाने के लिए मेरी तरफ़ देख रहे हैं। मेरे सत्तर साल पूरे होने के उपलक्ष में सर राधाकृष्णन ने जो अभिनन्दन-ग्रंथ छपाया है उससे शांति के हजारों उपासकों की आशायें गहरी हो गई हैं। मगर यह तो मैं ही जानता हूँ कि इन आशाओं की पूर्ति के लिए मैं कितना कमजोर साधन हूँ। भक्तों ने मुझे जो श्रेय दिया है उसका मैं हक़दार नहीं रहा हूँ। मैं अभी यह साबित नहीं कर सका हूँ कि हिन्दुस्तान बलवानों की अहिंसा का कोई बढ़िया उदाहरण दुनिया के सामने पेश करता है और न यह कि हमला करनेवाले के खिलाफ़ सशस्त्र युद्ध के सिवाय कोई और भी कारगर उपाय हो सकता है। इसमें कोई शक नहीं कि हिन्दुस्तान ने यह तो दिखा दिया कि कमजोरों के हथियार के रूप में निष्क्रिय अहिंसा काम की चीज है। यह भी सही है कि आतंकवाद के बजाय अहिंसा उपयोगी है। मगर मैं यह दावा नहीं करता कि यह कोई नई या बड़ी बात है। इससे शांति के आन्दोलन को

कुछ भी मदद नहीं मिलती।

मेरे पिछले लेख का पत्र-लेखक ने जो हवाला दिया है उसमें और कांग्रेस की माँग के साथ मेरे एकरस होजाने में विरोध दिखायी दे, तो कोई अचरज की बात नहीं है। मगर विरोध जैसी चीज़ असल में है नहीं। उस वक्त क्या, मैं तो अब भी अहिंसा का बलिदान करके आज़ादी नही लूँ। आलोचक यह ताना दे सकता है कि ब्रिटिश सरकार से जो घोषणा चाही जाती है वह करदे तो आप मित्र-राष्ट्रों की मदद करने लगेंगे और इस तरह हिंसा के भागीदार बन जायेंगे! यह ताना वाजिब होता, अगर बात यह न होती कि कांग्रेस की सहायता तो शुद्ध नैतिक सहायता होगी। कांग्रेस न धन देगी, न जन। उसके नैतिक प्रभाव का उपयोग भी शांति के लिए किया जायगा। मैं इस अखबार में पहले ही कह चुका हूँ कि मेरी अहिंसा बचाव और हमला करनेवाली अलग-अलग क़िस्म की हिंसाओं को मानती है। यह सही है कि अन्त में यह भेद मिट जाता है, मगर आरम्भ में तो उसका मूल्य है ही। मौका पड़ने पर अहिंसावादी व्यक्ति के लिए यह कहना धर्म हो जाता है कि न्याय किस तरफ़ है। इसीलिए मैंने अबीसीनिया, स्पेन, चेकोस्लावाकिया, चीन और पोलैण्ड के निवासियों की सफलता चाही थी, हालाँकि मैंने हर सूरत में यह चाहा था कि वे लोग अहिंसात्मक मुक़ाबिला करते। मौजूदा मामले में अगर चेम्बरलेन साहब ने जो ऊँची बातें कहीं हैं उनपर अमल करके ब्रिटेन अपना दावा कांग्रेस के सामने सच्चा साबित करदे और हिन्दुस्तान

आज़ाद घोषित कर दिया जाये, तो वह अपना सारा नैतिक प्रभाव शान्ति के पक्ष में जुटा देगा। मेरी राय में जो हिस्सा मैं इस काम में ले रहा हूँ वह बिल्कुल अहिंसात्मक है। कांग्रेस की माँग के पीछे कोई सौदे की भावना नहीं है। वह माँग है भी तो खालिस नैतिक। न सरकार को तङ्ग करने की इच्छा है। सविनय-भंग भी जल्दबाजी में शुरू न होगा। इस बात की सावधानी रखी जा रही है कि कांग्रेस की माँग पर जो भी उचित आपत्ति हो उसका समाधान किया जाये और वांछित घोषणा करने में ब्रिटेन को जो भी कठिनाई मालूम हो उसे कम किया जाये। जो अधीर कांग्रेसी अहिंसात्मक ही सही, लड़ाई के लिए छटपटा रहे हैं उनपर खूब ज़ोर डाला जा रहा है। मैं खुद यह चाहता हूँ कि शांति-स्थापन के काम में मैं कारगर हिस्सा लेने के योग्य हो जाऊँ! ऐसा मैं उसी हालात में कर सकता हूँ, जब हिन्दुस्तान सचमुच ब्रिटेन का आज़ाद साथी बन जाये, भले ही क़ानूनी क्रियायें युद्ध ख़त्म होने के बाद होती रहें।

लेकिन मैं हूँ कौन ? जो ईश्वर मुझे देता है इसके अलावा मेरे पास कोई ताकत नहीं है। सिर्फ नैतिक प्रभाव के अलावा मेरी देश-वासियों पर भी कोई सजा नहीं है। इस समय संसार पर जिस भीषण हिंसा का साम्राज्य है उसकी जगह अहिंसा स्थापित करने के लिए ईश्वर मुझे शुद्ध अस्त्र समझता होगा तो वह मुझे बल भी देगा और रास्ता भी दिखायेगा। मेरा बड़ा से बड़ा हथियार तो मूक प्रार्थना है। इस तरह शान्ति स्थापन का काम

ईश्वर के समर्थ हाथों में है। उसके हुक्म के बिना पत्ता भी नहीं हिल सकता। उसका हुक्म उसके कानून की शक्ल में ही जारी होता है। यह कानून सदा वैसा ही रहता है, कभी बदलता नहीं उसमें और उसके कानून में कोई भेद भी नहीं है। हम उसे और उसके कानून को किसी आईने की मदद से ही पहचान सकते हैं और वह धुँधला-सा। पर उस कानून की जो हलकी सी झलक दिखाई देती है वह मेरे अन्तर को आनन्द, आशा और भविष्य में श्रद्धा से भर देने के लिए काफ़ी है

'हरिजन-सेवक' : ६ दिसम्बर, १६३६

: ८ :

असल बात

एक मित्र ने मुझे एक पत्र लिखा है। वह लगभग ज्यों-का-त्यों यह है :

हम सबके दिलों में आपका जो विशेष स्थान है उसके कारण आपपर इतनी भारी जिम्मेदारियाँ आ पड़ी हैं कि आपको पत्र लिखकर उस बोझ को बढ़ाने में मुझे हमेशा संकोच रहता है। असल में, मैं उसी समय लिखता हूँ जब मुझसे किसी खास प्रेरणा के कारण रहा ही नहीं जाता। आप जानते हैं कि लड़ाई शुरू होने के महीनों पहले से मेरे मन में कितनी गहरी चिन्ता रही है। आपको मेरा यह पक्का विश्वास भी मालूम है कि युद्ध अनिवार्य था, क्योंकि इसके मूल कारण इतने गहरे चले गये थे कि बातचीत से मामला सुलझ नहीं सकता था।

"कांग्रेस ने अपने प्रस्ताव में यह माँग की कि अंग्रेज खासकर साम्राज्य के मातहत देशों और हिन्दुस्तान के लिए अपने इरादे खोलकर बतायें। यह मुझे बहुत सुन्दर लगा। इससे नैतिक प्रश्न साम्राज्य-सरकार के सीधे सामने आगये और जो स्वार्थपूर्ण

और आदर्शहीन उपयोगिता का बुरा वातावरण आज दुनिया के मामले निपटाने में राजनीतिज्ञों पर हावी हो रहा है उसके बीच में हिन्दुस्तान एक अजीब शान के साथ खड़ा दिखाई देता है। यह तो मुझे आशा थी ही कि अंग्रेज लोग सीधा-सच्चा जवाब न दे सकेंगे और बग़लें झाँकेंगे। जब हिन्दुस्तान को 'स्वाधीनता' मिलेगी, तो उसका सबब यही होगा कि उसे हासिल करने में रुकावट डालने की किसी की शक्ति नहीं रही थी। 'स्वाधीनता' से मेरा अभिप्राय यह है कि हिन्दुस्तान को अंग्रेजों और बाक़ी दुनिया के साथ कैसे सम्बन्ध रखना है, इसका निर्णय करने की आज़ादी हो। मेरे खयाल में वह समय अभी नहीं आया है, पर वह प्रस्ताव पास होने के बाद हर हिन्दुस्तानी, फिर वह कहीं भी हो, दूसरे राष्ट्रों के लोगों के सामने अभिमान और गौरव के साथ चार आँखें कर सकता है। मुझे तो उससे बड़ी प्रेरणा मिली।

"इस मामले में कांग्रेस के रवैये और काम से मैं सोलह आने सहमत हूँ। मगर कुछ दूसरी बातों में मेरी-उसकी पूरी तरह एक राय नहीं है। मुझे मालूम है कि अगर मैं बताऊँ तो आप धीरज से सुनेंगे।

"पहली बात तो यह है कि मुझे ऐसा लगता है कि इस मामले को कुछ ऐसा समझा जा रहा है मानो यह सिर्फ अंग्रेजों को मदद देने की बात हो। और अगर अंग्रेज हिन्दुस्तान से मदद लेना चाहते हैं तो यह उनका काम है कि हिन्दुस्तान की वाजिब माँगों को मान लें। भीतरी अर्थ यह भी मालूम होता है

कि जर्मनी की जीत को रोकने की चिन्ता अंग्रेजों को ही मुख्यतः करनी चाहिए। हिन्दुस्तान दिल से सहायता देगा तो यह उसकी एक तरह की मेहरबानी होगी। यह मेहरबानी उसी हालत में की जानी चाहिए, जब हम अंग्रेजों को उसका हक़दार समझें। ये हक़ वे इस देश के सम्बन्ध में अपनी नेकनीयती दिखाकर ही साबित कर सकते हैं।

"बेशक वे अपनी नेकनीयती साबित करदें तो बड़ी बढ़िया बात हो, पर जैसा कि मेरे ख़याल से मैंने पिछले पत्र में आपको लिखा है, मुझे इसमें बहुत विश्वास नहीं है। मैं मानता हूँ कि नीति या न्याय के ख़याल से नहीं बल्कि संसार की परिस्थिति से मजबूर होकर ही अंग्रेज जिन देशों पर उनकी हुकू-मत है वहाँ से अपने विशेष अधिकार छोड़ेंगे। इसके बावजूद मेरी राय में हमें उनकी 'पात्रता' की तरफ नहीं देखना चाहिए। और न उनकी अपात्रता से हमें जरा भी वह सब मदद देने में रुकावट होनी चाहिए जो हम इस संकट के मौक़े पर पश्चिमी 'लोकतन्त्रों', यानी ब्रिटेन और फ्रांस को दे सकते हैं।

"मुझे तो ऐसा लगता है कि उनकी पात्रता का सवाल नहीं उठता है। चेम्बरलेन और दूसरे लोग उन्हें "शान्ति-प्रेमी राष्ट्र" कहते हैं। अवश्य ही वे शान्ति चाहते हैं, बशर्ते कि वे दुनिया के साधनों के बटवारे का मौजूदा आधार क़ायम रखकर सुलह कर सकें। वे अपने आपको न्याय-प्रेमी राष्ट्र भी बताते हैं। तो भी, और हिटलर इस लड़ाई के लिए जिम्मेदार हो जैसा कि

वह बेशक है तो भी मौजूदा साम्यवादी राष्ट्र और संयुक्त राज्य (अमरीका) ही अन्त में दुनिया की उस अन्यायपूर्ण परिस्थिति के लिए जिम्मेदार हैं जिससे हिटलर, हिटलर बन सका। बेशक, इस लड़ाई और पिछली लड़ाई दोनों का अन्तिम दोष जर्मनी की अपेक्षा फ्रांस और इंग्लैंड का ही अधिक है। इतने पर भी इन सब बातों का यह मतलब नहीं है कि जर्मनी की जीत से न्याय या दुनिया की भलाई बढ़ेगी। वे इटली और जापानवालों की तरह इस कल्पना को उत्साह के साथ मानने लगे हैं कि ग़ैर-युरोपियन जातियों पर साम्राज्यवादी हुकूमत क़ायम की जाये। यह काम वे अंग्रेजों, फ्रांसीसियों और डच लोगों के ही हाथ में न छोड़कर खुद भी उसमें शामिल होना चाहते हैं। नतीजा यह होगा कि जर्मनों की सच्ची जीत हुई तो साम्राज्यवाद के उसूल की जिन्दगी और भी बढ़ जायगी और मुझे भरोसा है कि ग़ैर-युरोपियन जातियों की पराधीनता पहले से कहीं अधिक गम्भीर और पतित हो जायेगी—इसलिए कि उस हालत में साम्राज्यवाद शासकों के इस यक़ीन पर क़ायम होगा कि हम "ऊँची नसल" के हैं, इसलिए हमें पराधीन जाति के स्वार्थों को पूरी तरह हमारे अपने स्वार्थों के मातहत रखने का पूरा अधिकार है। जर्मनों के बारे में जितना मैं खुद जानता हूँ उससे मुझे डर है कि उन्होंने जीतकर यदि संसार-व्यापी साम्राज्य क़ायम कर लिया तो वे "जाति" के इस तत्त्वज्ञान को निठुरता से अमल में लाकर उसे ठेठतक पहुँचाये बिना न रहेंगे। और हम अपने इन "आर्यन" प्रभुओं के "लकड़हारे और पनिहारे"

हो जायेंगे।

"देश की भीतरी कमज़ोरी या असन्तोष से जर्मन सरकार की जल्दी ही कमर टूट जाये तो बात दूसरी है। नहीं तो मुझे लड़ाई के तीन ही परिणाम सम्भव प्रतीत होते हैं : (१) जर्मनी की जीत (२) अंग्रेजों और उनके मित्रों की जीत (३) किसी भी पक्ष की साफ़ जीत न होकर गाड़ी रुक जाये।

"इनमें से पहली बात हो तो मेरे ख़याल से उससे बढ़कर और कोई विपत्ति—ख़ासकर कमज़ोर ग़ैर-युरोपियन जातियों के लिए—नहीं हो सकती। मैं बहुत भूल नहीं कर रहा हूँ तो उनके लिए यह बात 'खड्ड में से निकलकर कुएँ में गिरने' जैसी होगी और वह भी पहले से बदतर।

"मुझे ऐसा भी लगता है कि अगर अंग्रेज़ों और फ्रांसीसियों की पूरी और भारी जीत हुई और जर्मन फिर उनकी दया पर रह गये, तो भी संसार के लिए मुसीबत ही होगी। हाँ, यह मुसीबत जर्मनी की जीत से कहीं कम होगी। मगर इसमें उन अवस्थाओं के स्थायी होने की सम्भावना रहेगी जो इस लड़ाई और पिछले महायुद्ध के मूल कारण हैं और कुछ साल बाद सब राष्ट्रों के नौजवानों को फिर घरों से निकल-निकलकर विशेष स्वार्थों और साम्राज्य के अधिकारों को क़ायम रखने के लिए अपने प्राण देने पड़ेंगे। नहीं, मित्र राष्ट्रों की जीत से भी समस्या हल न होगी। हमें फिर वही वर्साई की संधि के परिणाम भुगतने पड़ेंगे।

"तीनों में सब से अच्छा नतीजा तो यही हो सकता है कि

किसी पक्ष की पूरी जीत न हुई हो, दोनों ने बराबरी के नाते संधि-चर्चा करके सुलह कर ली हो और दोनों अच्छी तरह समझ गये हों कि और लड़ने का अनिवार्य परिणाम यही होगा कि संसार छिन्न-भिन्न हो जाये और अव्यवस्था फैल जाये। जब नौबत यहाँतक पहुँच जायगी कि दोनों पक्षों को साफ़-साफ़ मालूम हो जायगा कि समझौता नहीं करेंगे तो मिट जायँगे, मेरे ख़याल से तभी किसी ऐसे निपटारे की आशा हो सकती है जिससे संसार में सच्ची शान्ति स्थापित हो जाये और राष्ट्रों के आपसी सम्बन्ध भविष्य में अधिक सन्तोषजनक रह सकें।

"बड़ी मुश्किल तो यह है कि इस लड़ाई के परिणाम के विषय में निश्चय के साथ कुछ भी नहीं कहा जा सकता। अख़बारों में जो दिलासा देनेवाला प्रचार हो रहा है उसके बावजूद दोनों तरफ की ज़ाहिरा और भीतरी शक्तियाँ इतनी बराबर की-सी हैं कि अगर यह देश अंग्रेजों की पूरी तरह सहायता न करे तो पूरे विश्वास के साथ नहीं कहा जा सकता कि अन्त में ब्रिटेन की हार नहीं होगी। उसका अर्थ होगा ७ करोड़ से ऊपर जर्मनों की जीत—यानी ऐसे लोगों की जीत जिनके दिलों में यह विश्वास जम गया है कि वे एक "ऊँची नसल" के हैं और इसलिए उन्हें दुनियाभर पर अपना साम्राज्य रखने का हक़ है। मेरा पक्का विश्वास है कि दोनों में से यह विपत्ति बड़ी होगी।

"अगर मुझे इतना भर मालूम हो जाये कि हिन्दुस्तान के बिल्कुल अलग रहने पर भी युद्ध का ऐसा अन्त न होगा तो मैं

ज़रूर इस बात के हक़ में हो जाऊँगा कि यह देश इस समय कुछ भी मदद न दे और जिनके पास साम्राज्य है और जो साम्राज्य बनाना चाहते हैं उन दोनों को एक दूसरे के भेजे में समझ भरने के लिए छोड़ दिया जाये। इतना ही नहीं, मुझे यक़ीन हो जाये कि हिन्दुस्तान इस वक़्त कठिनाइयाँ पैदा करके गाड़ी न रोक देगा तो भी अंग्रेजों और उनके मित्रों की ही पूरी जीत होगी, तो मैं पसन्द करूँगा कि हम ब्रिटेन की मुश्किलें बढ़ाकर वह परिणाम लायें। मगर यह यक़ीन तो हो नहीं सकता और नाजी सरकार की ज़बरदस्त जीत हुई तो इतनी भारी विपत्ति होगी कि मेरी राय में उसकी जोखम उठाना हमारे लिए ठीक नहीं है। वह जोखम बहुत बड़ी है।

"सवाल यह नहीं है कि हम अंग्रेज़ों को जर्मनी पर विजय पाने में मदद देने की कृपा करें या न करें। नाज़ी जर्मनी लड़ाई में जीतकर दुनिया भर में अपना साम्राज्य स्थापित करना चाहता है। यह वह उन शक्तियों को हराकर ही कर सकता है कि वे जर्मनी को रोक सकती हैं। हमारे सामने सवाल यह है कि हम दूसरों के साथ शामिल होकर इस तरह की जीत को असंभव बनायें या न बनायें। हम, जो इस समय संसार के शोषित और पराधीन राष्ट्र हैं, जर्मनी की जीत को बर्दाश्त नहीं कर सकते। मुझे डर है कि इस वक्त हमने उसे रोकने में शामिल होने से इन्कार किया और अफ्रीका और उसके फलस्वरूप जर्मनी जीत गया तो संसार को और खासकर एशिया और अफ्रीका की ग़ैर-युरोपियन और सैनिक दृष्टि से कम-

ज़ोर जातियों को जो परिणाम भोगने पड़ेंगे उनकी ज़िम्मेवारी से हम न बच सकेंके, हालाँकि यह सच है कि लड़ाई की परिस्थिति पैदा करने में हमारा कुछ भी हाथ नहीं है।

"आज मैंने 'न्यूज़ क्रानिकल' को भेजा हुआ आपका वक्तव्य देखा। आपने मुद्दे कितने बढ़िया ढँग से निकाले हैं और इन मुद्दों को पश्चिमवालों के सामने हर वक्त रखना कितना ज़रूरी है! फिर भी मुझे लगता है कि आनेवाले समय का तकाज़ा और भी कुछ है वह यह है कि अंग्रेज़ जबतक हमारी उचित माँगों को मान न लें, तबतक हम इस नाजुक मौके पर हाथ-पर-हाथ धरे न बैठे रहें। सम्भव है, लड़ाई के नतीजे का दारोमदार इसी पर हो कि यह देश अन्त में नहीं बल्कि इस समय क्या रास्ता पकड़ता है।

"मुझे जर्मनों से ज़रा भी घृणा नहीं है। उल्टे, मुझे उनके साथ गहरी सहानुभूति है। मुझे लगता है कि उनके और वैसे ही दूसरे जिन राष्ट्रों के पास साम्राज्य नहीं है उनके साथ बड़ा अन्याय हो रहा है और जिन राष्ट्रों के पास साम्राज्य हैं उनका वश चले तो वे इस अन्याय को सदा के लिए बनाये रखें। मगर मुझे नाजियों के मौजूदा दृष्टिकोण से ज़रूर नफरत और अन्देशा है, और वह खास तौर पर इसलिए कि जिन्हें वे 'नीची नसल' समझते हैं उनके साथ उनका व्यवहार बहुत बुरा होगा। मुझे रूस की भी इस बात से बड़ी घृणा है कि वहाँ 'अवांछनीय लोगों की छटनी' बहुत बेदर्दी के साथ की जाती है और आज़ादी के साथ विचार और आलोचना करने का खानगी हक़ छीना जाता है फिर

भी जर्मनों के मौजूदा विचारों को देखते हुए मैं उनके बजाय यह पसन्द करूँगा कि दुनिया पर रूसियों का आधिपत्य भले ही हो। रूसी कम-से-कम "ऊँची नसल" के तत्वज्ञान से तो कोई सरोकार नहीं रखेंगे। भले ही वे बीच बीच के वर्गवालों का सफाया करदें, पर जो बच रहेंगे उनके साथ नीची नसल का सा बर्ताव तो न करेंगे। मगर जर्मनों के दृष्टिकोण में तो हम सभी के लिए खतरा भरा है। मेरी समझ से इस बारे में कोई भी जोखम उठाना हमारे लिए पागलपन होगा।

"इस बीच दिन-दिन और घंटा-घंटा करके कीमती समय चला जा रहा है और हिन्दुस्तान ने अभी तक यह विश्वास नहीं करा दिया है कि वह अंग्रेज़ों की परेशानी का कारण नहीं बनेगा। यह देखकर क्या संसारभर में नाज़ीवाद की शक्तियों का हौसला और बल नहीं बढ़ेगा? मुझे नहीं दीखता कि इससे गैर-यूरोपियन जातियों की या जगत को कोई सेवा होगी।"

इसका मैंने नीचेलिखा उत्तर दिया है:—

"कोई अन्धविश्वास भले कहे तो भी मुझे एक चीज से प्रेम है। जब किसी मामले में दोनों ही तरफ़ अनीति न हो और मुझे कोई शंका हो कि किधर जाऊँ तो मैं चितपट कर लेता हूँ और उसमें मुझे सचमुच ऐसा लगता है कि ईश्वर का हाथ है। मेरा और कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है। मेरी राय में अन्तिम सत्ता ईश्वर में ही मानना वैज्ञानिक तरीका है। मौजूदा संकट में भी मैंने एक तरह के चितपट का आश्रय लिया है। अगर मेरी ही

चलती तो आपको मालूम है कि क्या हुआ होता। पर वह होना नहीं था। कांग्रेस के तरीके में अनीति तो थी ही नहीं, उसके लिए नैतिक मार्ग भी एकमात्र वही था। यही वजह है कि मैंने कांग्रेस का साथ दिया। ऐसा करने में मेरा उद्देश्य यह था कि मेरे प्रस्ताव में जो अहिंसात्मक तरीक़ा था उसीको और भी आगे बढ़ा सकूँ। कांग्रेस के तरीके में उस अर्थ की गुंजाइश थी जो लेखक ने लगाया है। मैं इसे कोई शर्त नहीं मानता। यह तो चितपट है। कांग्रेस का कहना है कि अंग्रेज़ों का इरादा पाक है, तो हम मैदान में कूद पड़ेंगे। इस इरादे की परीक्षा करने का उपाय यह जान लेना है कि अंग्रेज़ हिन्दुस्तान के बारे में क्या सोचते हैं। अगर अंग्रेज़ों का उद्देश्य शुद्ध है तो यह स्पष्ट हो जाता है कि ईश्वर चाहता है कि कांग्रेस अपना सारा प्रभाव अंग्रेज़ों के पक्ष में लगा दे ताकि अन्त में जीत सबसे प्रबल सेना की न होकर प्रबल पक्ष की हो। आप जो चीज़ चाहते हैं वह तो पहले से ही अंग्रेज़ों के हाथ में है। बेरोक-टोक धन-जन लिये जा रहे हैं। जबतक हिंसा नहीं फूट पड़ती, तबतक ये दोनों चीज़ें उन्हें मिलती रहेंगी। हिंसा को कांग्रेस बर्दाश्त नहीं करेगी। इसीलिए यह मानकर चला जा सकता है कि जहाँतक हिंसात्मक तरीके का सम्बन्ध है अंग्रेज़ों को कांग्रेस से ज़रा भी नहीं डरना चाहिए। मेरी राय में सिर्फ अहिंसात्मक दृष्टि-कोण ही सोचने लायक़ है और उसको देखा जाये तो जबतक अंग्रेज़ों की नैतिक स्थिति साफ़ न हो जाये, तबतक कांग्रेस का उन्हें नैतिक सहायता

देना अनीतिपूर्ण होगा।

"आपकी तरह मैं नाज़ीवाद के बारे में कोई नियम नहीं बनाना चाहता। जर्मन भी वैसे ही मनुष्य हैं जैसे आप या मैं। और 'वादों' की तरह नाज़ीवाद भी आज का खिलौना है। जो उनका हाल होना है वही इसका भी होगा।

"आप और मुझमें जो फर्क है वह मेरी समझ में आ गया है। पश्चिमी होने के कारण आप बुद्धि को श्रद्धा के मातहत नहीं कर सकते। मैं हिन्दुस्तानी ठहरा। मैं चाहूँ तो भी श्रद्धा को बुद्धि के अधीन नहीं कर सकता। आप परमपिता परमात्मा को भी अपनी बुद्धि से ललचाना चाहते हैं। मैं ऐसा नहीं कर सकता। देवं चैवात्र पंचमम्।"

"हमारे बौद्धिक मतभेदों के बावजूद हमारे हृदय हमेशा ही एक रहे हैं, और रहेंगे।"

'हरिजन-सेवक' : २३ दिसम्बर, १९३९

: ६ :

अहिंसा फिर किस काम की ?

क हिन्दुस्तानी मित्र के पत्र का सार नीचे दे रहा हूँ :—

"दिल दुखता है नार्वे की दर्दभरी कहानी सुनकर। वे लोग हिम्मत से लड़े तो सही, लेकिन अधिक बलवान दुश्मन के मुक़ाबिले में हार बैठे। इससे हिंसा की निरर्थकता साबित होती है। लेकिन क्या हम दुनिया की समस्या को हल करने के लिए कुछ अहिंसा सिखा रहे हैं? ब्रिटेन को परेशान करके क्या हम जर्मनी को उत्साहित नहीं कर रहे हैं? नार्वे और डेन्मार्क हमारे रुख को कैसे ठीक समझ सकते हैं? उनके लिए हमारी अहिंसा किस काम की? चीन और स्पेन को हमने जो इमदाद दी, उसके बारे में भी वह गलतफहमी कर सकते हैं। आपने जो फर्क किया है वह केवल इसलिए कि साम्राज्यवादी ताकत को आप मदद नहीं देना चाहते, हालाँकि वह एक अच्छे काम के लिए लड़ रही है। पिछली लड़ाई में आपने भर्ती करवाई लेकिन आज आपका ख़याल बिलकुल दूसरा है। फिर भी आप कहेंगे कि यह सब ठीक है। यह कैसे? मैं तो नहीं समझता हूँ।"

डेन्मार्क और नार्वे के अत्यन्त सुसंस्कृत और निर्दोष लोगों की किस्मत पर अफ़सोस करनेवालों में लेखक अकेले ही नहीं हैं। यह लड़ाई हिंसा की निरर्थकता दिखला रही है। फर्ज किया जाये कि हिटलर मित्र-राज्यों पर विजय हासिल कर लें, तो भी वह ब्रिटेन और फ्रांस को हर्गिज गुलाम नहीं बना सकेंगे। उसका अर्थ है दूसरी लड़ाई। और अगर मित्र-राज्य जीत जायें तो भी दुनिया की बेहतरी नहीं होगी। लड़ाई में अहिंसा का सबक सीखे बिना और अहिंसा के ज़रिये जो फायदा उठाया है उसे छोड़े बग़ैर वह अधिक शिष्ट भले ही हों, पर कुछ कम बेरहम नहीं होंगे। चारों ओर, ज़िन्दगी के हर पहलू में न्याय हो, यह अहिंसा की पहली शर्त है। मनुष्य से इतनी अपेक्षा करना शायद अधिक समझा जाये। लेकिन मैं ऐसा नहीं समझता। मनुष्य कहाँ-तक ऊँचा जा सकता है और कहाँतक गिर सकता है इसका निर्णय हम नहीं कर सकते। पश्चिम के इन मुल्कों को हिन्दुस्तान की अहिंसा ने कोई सहायता नहीं पहुँचाई है। इसका कारण यह है कि यह अहिंसा अभी खुद बहुत कमजोर है। उसकी अपूर्णता देखने के लिए हम उतने दूर क्यों जायें ? कांग्रेस की अहिंसा की नीति के बावजूद हम अपने देश में एक दूसरे के साथ लड़ रहे हैं। खुद कांग्रेस पर भी अविश्वास किया जा रहा है। जबतक कांग्रेस या उसके जैसा कोई और गिरोह सबल लोगों की अहिंसा पेश न करे, दुनिया में इसका संचार हो नहीं सकता। स्पेन और चीन को जो मदद हिन्दुस्तान ने दी वह केवल नैतिक थी

माली सहायता तो उसका एक छोटा-सा रूप था। इन दोनों मुल्कों के लिए जो अपनी आज़ादी रातोंरात खो बैठे, शायद ही कोई हिन्दुस्तानी हो जिसे उतनी हमदर्दी न हो। यद्यपि स्पेन और चीन से उनका मामला जुदा है। उनका नाश चीन और स्पेन के मुकाबिले में शायद ज्यादा मुकम्मिल है। दरअसल तो चीन और स्पेन के मामले में भी ख़ास फर्क है लेकिन जहाँतक हमदर्दी का सवाल है उनमें कोई अन्तर नहीं आता है। बेचारे हिन्दुस्तान के पास इन मुल्कों को भेजने के लिए सिवा अहिंसा के और कुछ नहीं है। लेकिन जैसा कि मैं कह चुका हूँ, यह अभी तक भेजने के लायक चीज़ नहीं हुई है; वह ऐसी तब होगी, जब कि हिन्दुस्तान अहिंसा के ज़रिये आज़ादी हासिल कर लेगा।

अब रहा ब्रिटेन का मसला। कांग्रेस ने उसे कोई परेशानी में नहीं डाला है। मैं यह घोषित कर चुका हूँ कि मैं कोई ऐसा काम नहीं करूँगा जिससे उसे कोई परेशानी हो। अंग्रेज परेशान होंगे, अगर हिन्दुस्तान में अराजकता होगी। कांग्रेस जबतक मेरी बात मानेगी तबतक इसका समर्थन नहीं करेगी।

कांग्रेस जो नहीं कर सकती वह यह है कि अपना नैतिक प्रभाव ब्रिटेन के पक्ष में नहीं डाल सकती। नैतिक प्रभाव मशीन की तरह कभी नहीं दिया जा सकता। उसे लेना न लेना ब्रिटेन के ऊपर निर्भर करता है। शायद ब्रिटेन के राजनेता सोचते हैं कि ऐसा कौन नैतिक बल है जो कांग्रेस दे सकती है।

उनको नैतिक बल की दरकार ही नहीं। शायद वह यह भी

सोचते हैं कि इस लड़ाई में फँसी हुई इस दुनिया में उन्हें किसी चीज की जरूरत है तो वह माली सहायता है। अगर ऐसा वे सोचते हैं, तो ज्यादा ग़लती भी नहीं करते। यह ठीक ही है, क्योंकि लड़ाई में नीति नाजायज होती है। यह कहकर कि ब्रिटेन का हृदय-परिवर्तन करने में सफलता की संभावना नहीं है लेखक ने ब्रिटेन के पक्ष में सारा मामला हार दिया। मैं ब्रिटेन की बुराई नहीं चाहता। मुझे दुःख होगा, अगर उसकी हार हो। लेकिन जबतक वह हिन्दुस्तान का कब्जा न छोड़े, कांग्रेस का नैतिक बल ब्रिटेन के काम नहीं आ सकता। नैतिक प्रभाव तो अपनी अपरिवर्तित शर्त पर ही काम करता है।

जब मैंने खेड़ा में भर्ती की थी, तब की और आज की मेरी वृत्ति में मेरे मित्र को कोई फर्क नजर नहीं आता। पिछली लड़ाई में नैतिक प्रश्न नही उठाया गया था। कांग्रेस ने अहिंसा की प्रतिज्ञा उस वक़्त नहीं ली थी। जो नैतिक प्रभाव उसका आम जनता पर आज है वह तब नहीं था। मैं जो करता था, निजी तौर से करता था, मैं लड़ाई की कान्फ्रेंस में भी शरीक हुआ था, और वादा पूरा करने के लिए, अपनी सेहत को भी खतरे में डालकर, मैं भर्ती करता रहा। मैंने लोगों से कहा कि अगर उन्हें हथियारों की जरूरत हो, तो फौजी नौकरी के जरिये उन्हें जरूर प्राप्त कर सकते हैं। लेकिन अगर वह मेरी भाँति अहिंसक हों, तो मेरी भर्ती की अपील उनके लिए नहीं थी। जहाँतक मैं जानता था, मेरे दर्शकों में एक भी आदमी अहिंसा को माननेवाला नहीं

था। उनकी भर्ती होने की अनिच्छा का कारण यह था कि उनके दिलों में ब्रिटेन के लिए वैरभाव था। लेकिन ब्रिटेन की हुकूमत को ख़त्म करने का एक जाग्रत निश्चय धीरे-धीरे इस वैरभाव का स्थान ले रहा था।

तब से हालात बदल चुके हैं। पिछली लड़ाई में हिन्दुस्तान की ओर से सार्वजनिक सहायता मिलने के बावजूद भी, ब्रिटेन की वृत्ति रौलट एक्ट और ऐसे ही रूपों में प्रगट हुई। अंग्रेज-रूपी खतरे का मुकाबिला करने के लिए कांग्रेस ने असहयोग को स्वीकार किया। जलियाँवाला बाग, साईमन कमीशन, गोल-मेज कान्फ्रेंस और थोड़े-से लोगों की शरारत के लिए बंगाल को कुचलना, यह सब बातें उसकी यादगार हैं।

जबकि कांग्रेस ने अहिंसा की नीति को स्वीकार कर लिया है, मेरे लिए आवश्यक नहीं कि मैं भर्ती के लिए लोगों के पास जाऊँ। कांग्रेस के जरिये मैं थोड़े से रंगरूटों की अपेक्षा बहुत ही बेहतर सहायता दे सकता हूँ। लेकिन यह जाहिर है कि ब्रिटेन को उसकी जरूरत नहीं है। मैं तो चाहता हूँ पर लाचार हूँ।

'हरिजन-सेवक' : ४ मई, १९४०

: १० :

हमारा कर्तव्य

"नाज़ी जर्मनी द्वारा किये जानेवाले इधर के और भी क्रूरतापूर्ण हमलों का ख़याल रखते हुए और इस वाक़ये को आँखों के सामने रखते हुए कि ब्रिटेन आज मुसीबत में पड़ गया है और चारों ओर आपदाओं से घिरा हुआ है। क्या अहिंसा का यह तक़ाज़ा नहीं है कि हम उससे कहदें कि यद्यपि हम अपनी स्थिति से ज़रा भी नहीं हट रहे हैं और जहाँतक उसके साथ हमारे ताल्लुक़ात और हमारे भविष्य का सम्बन्ध है हम अपनी माँग में तिल भर कमी न करेंगे। फिर भी मुसीबतों से घिरे होने की हालत में उसे तंग या व्यग्र करने की हमारी इच्छा नहीं है। इसलिए फिलहाल सत्याग्रह-आन्दोलन के विषय में सारे ख़यालात और सब तरह की बातें हम निश्चित रूप से मुल्तवी कर देते हैं? आज नाज़ीवाद स्पष्टत: जैसे प्रभुत्व के लिए उठ रहा है, क्या हमारा मन उसकी कल्पना के खिलाफ़ विद्रोह नहीं करता है? क्या मानवीय सभ्यता का सम्पूर्ण भविष्य ख़तरे में नहीं है? यह ठीक है कि विदेशी शासन से अपने को स्वतन्त्र करना भी हमारे लिए ज़िन्दगी और मौत का ही सवाल

है। लेकिन जब ब्रिटेन एक ऐसे आक्रमणकारी के मुक़ाबले खड़ा है, जो निश्चितरूप से जंगली उपायों का इस्तेमाल कर रहा है, तब क्या हमें ऐसी समयोचित और मानवीय भाव-भंगी न ग्रहण करनी चाहिए जो अन्त में हमारे विरोधी के दल को जीत ले? फिर अगर इसका उसपर कुछ असर न हो और इज़्ज़त आबरू के साथ कोई समझौता नामुमकिन ही बना रहे, तो भी क्या हमारे लिए यह एक ज़्यादा ऊँची और श्रेष्ठ बात न होगी कि हम अहिंसात्मक युद्ध तब छेड़ें, जब वह (ब्रिटेन) आज की तरह चारों तरफ से मुसीबतों से घिरा न हो? क्या इसके लिए हमें अपने अन्दर और ज़्यादा ताक़त की ज़रूरत न पड़ेगी? और चूंकि ज़्यादा ताक़त की ज़रूरत पड़ेगी, इसलिए क्या इसका अर्थ अधिक और ज़्यादा टिकाऊ लाभ नहीं होगा और क्या यह आपस में सिर फोड़नेवाली दुनिया के लिए एक ऊँचा उदाहरण नहीं होगा? क्या यह इस बात का भी प्रमाण नहीं होगा कि अहिंसा प्रधानतया बलवानों का अस्त्र है?"

नार्वे के पतन के बाद कई पत्र लेखकों के जो पत्र मुझे प्राप्त हुए हैं उनकी भावना इस पत्र में कदाचित ठीक-ठीक ज़ाहिर हुई है। यह इन पत्र-लेखकों के दिलों की शराफ़त का सबूत है। पर इसमें वस्तुस्थिति के प्रति ठीक समझ का अभाव है। इन पत्रों में ब्रिटिश प्रकृति का ख़याल नहीं किया गया है। ब्रिटिश जाति को गुलाम जाति की हमदर्दी की कोई ज़रूरत नहीं है, क्योंकि वह इस गुलाम जाति से जो कुछ चाहे ले सकती है। वह वीर और स्वाभिमानी जाति है। नार्वे जैसी एक नहीं अनेक विघ्न-बाधाओं

से भी वे लोग पस्तहिम्मत होने वाले नहीं हैं। अपने आगे आने-वाली किसी भी दिक़्क़त का सामना करने में वे भली भाँति समर्थ हैं। युद्ध में भारत को किस तरह क्या हिस्सा लेना है इस बारे में उसको खुद कुछ कहने का हक़ नहीं है। उसे तो ब्रिटिश मन्त्रिमंडल की इच्छामात्र से इस युद्ध में घसीटना पड़ा है। उसके साधनों का ब्रिटिश मन्त्रिमंडल की इच्छानुसार इस्तेमाल किया जा रहा है। हम शिकायत नहीं कर सकते। हिन्दुस्तान एक पराधीन देश है और ब्रिटेन इस पराधीन देश को उसी तरह दुहता रहेगा जिस तरह कि अतीत काल में दुहता रहा है। ऐसी स्थिति में कांग्रेस क्या भाव-भंगी, क्या रुख इख़्तियार कर सकती है? उसके वश में जो सबसे ऊँची भाव-भंगी थी, उसे वह अब भी ग्रहण किये हुए है। वह देश में कोई फ़िसाद खड़ा नहीं करती है। खुद अपनी ही नीति के कारण वह इससे बच रही है। मैं कह चुका हूँ और फिर दोहराता हूँ कि मैं हठवश ब्रिटेन को तंग करने के लिए कोई काम नहीं करूँगा। ऐसा करना सत्याग्रह की मेरी धारणा के प्रतिकूल होगा। इसके आगे जाना कांग्रेस की ताक़त के बाहर है।

निस्सन्देह, कांग्रेस का फर्ज़ है कि स्वतन्त्रता की अपनी माँग का अनुसरण करे और अपनी शक्ति की पूरी सीमा तक सत्याग्रह की तैयारी जारी रखे। इस तैयारी की खासियत का मान करना चाहिये। खादी, ग्रामोद्योगों और साम्प्रदायिक एकता को बढ़ाना अस्पृश्यता का निवारण, मादकद्रव्य-निषेध तथा इस उद्देश्य से

कांग्रेस-सदस्य बनाना और उनको ट्रेनिंग देना। क्या इस तैयारी को मुल्तवी कर देना चाहिए? मैं तो कहूँगा कि अगर काँग्रेस सचमुच अहिंसात्मक बन गई और अहिंसा की नीति के पालन में उसने ऊपर बताये हुए रचनात्मक कार्यक्रम को सफलता पूर्वक निभा लिया, तो निस्सन्देह वह स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकेगी। तभी हिन्दुस्तान के लिए अवसर होगा कि वह एक स्वतन्त्र राष्ट्र की हैसियत से यह फैसला करे कि उसे ब्रिटेन को कौन-सी मदद किस तरह देनी चाहिए?

जहाँतक मित्रराष्ट्रों का हेतु संसार के लिए शुभ है तहाँतक उसमें कांग्रेस की देन यह है कि वह अहिंसा और सत्य का असली तौर पर पालन कर रही है और बिना कमी व विलम्ब किये पूर्ण स्वतन्त्रता के अपने ध्येय का अनुसरण कर रही है।

कांग्रेस की स्थिति की परीक्षा करने और उसकी न्यायता को स्वीकार करने से आग्रहपूर्वक इन्कार करके और ग़लत सवाल खड़े करके ब्रिटेन असल में खुद अपने ही हेतु को नुक़सान पहुँचा रहा है। मैंने जिस तरह की विधान-परिषद् का प्रस्ताव किया है उसमें एक के अलावा और सब दिक़्क़तें हल हो जाती हैं—बशर्ते कि इस एक को भी दिक़्क़त मान लिया जाये। इस परिषद् में हिन्दुस्तान के भाग्य-निर्णय में ब्रिटिश हस्तक्षेप के लिए अलबत्ता कोई गुंजाइश नहीं है। अगर इसे एक दिक़्क़त की शक्ल में पेश किया जाये, तो कांग्रेस को तबतक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी जबतक यह न मान लिया जाये कि यह न सिर्फ़ कोई दिक़्क़त नहीं

है बल्कि यह कि आत्म-निर्णय हिंदुस्तान का निर्विवाद अधिकार है।

अच्छा होगा कि इस बारे में एक-न-एक बहाना खड़ा करके सत्याग्रह की घोषणा करने में मेरी अनिच्छा का दोषारोपण करते हुए जो पत्र मुझे मिले हैं उनका भी जिक्र मैं कर दूँ। इन मित्रों को जान लेना चाहिए कि अहिंसा-अस्त्र के सफल प्रदर्शन के लिए मैं उनसे ज्यादा चिंतित हूँ। इस शोध के अनुगमन में मैं ऐसा लगा हूँ कि अपने को एक पल का विश्राम नहीं दे रहा हूँ। निरन्तर मैं प्रकाश के लिए प्रार्थना कर रहा हूँ। लेकिन बाहरी दबाव के कारण मैं सत्याग्रह छेड़ने में जल्दबाजी नहीं कर सकता—ठीक वैसे, जैसे कि बाहरी दबाव के कारण मैं उसको छोड़ नहीं सकता। मैं जानता हूँ कि यह मेरी सबसे बड़ी कसौटी की घड़ी है। यह दर्शाने के लिए मेरे पास बहुत ज्यादा सबूत हैं कि बहुतेरे कांग्रेसकर्मियों के हृदय में काफी हिंसा भरी है और उनमें स्वार्थ की मात्रा भी बहुत ज्यादा है। अगर कांग्रेस-कार्यकर्त्ता अहिंसा की सच्ची भावना से ओत-प्रोत होते, तो स्वतन्त्रता हमें १९२१ ई० में ही मिल गई होती और हमारा इतिहास आज कुछ दूसरा ही लिखा गया होता। लेकिन मुझे शिकायत नहीं करनी चाहिए। जो औजार मेरे पास हैं उन्हींसे मुझे काम करना है। मैं इतना ही चाहता हूँ कि कांग्रेसी लोग मेरी ऊपर से दीख पड़नेवाली अक्रियता का कारण जान लें।

'हरिजन-सेवक': २० मई; १९४०

: ११ :

आतंक

आजकल अखबारों में आतंक के बारे में कई समाचार पढ़ने को मिलते हैं और इससे भी ज्यादा बातें सुनाई पड़ती हैं। एक मित्र लिखते हैं—

> "एकान्त सेवाग्राम में बैठे हुए आप उन बातों और फुस-फुसाहटों—अफवाहों की कल्पना भी नहीं कर सकते जो व्यस्त नगरों में फैल रही हैं। लोगों पर आतंक या भय छा गया है!

आतंक सबसे ज्यादा निःसत्त्व करनेवाली अवस्था है जिसमें कोई हो सकता है। आतंक की तो यहाँ कोई वजह ही नहीं है। चाहे जो कुछ गुजरे, आदमी को अपना दिल मज़बूत रखना चाहिए। लड़ाई एक निरी बुराई है। लेकिन उससे एक अच्छी बात जरूर होती है। यह भय को दूर कर देती है और बहादुरी को ऊपर लाती है। मित्र-राष्ट्रों और जर्मनों दोनों के बीच अब तक लाखों की जानें गई होंगी। ये लोग पानी की तरह खून बहा रहे हैं। फ्रांस और ब्रिटेन में बूढ़े आदमी, बूढ़ी और जवान स्त्रियाँ और बच्चे मौत के बीचोंबीच रह रहे हैं। फिर भी वहाँ

कोई आतंक नहीं है। अगर वे आतंक या भय से अभिभूत हो जायें, तो यह उनके लिए जर्मन गोलियों, गोलों और जहरीली गैसों से कहीं भयंकर शत्रु बन जायेगा। हमें इन कष्ट सहनेवाले पश्चिमी देशों से शिक्षा लेनी चाहिए और अपने बीच से आतंक को निकाल बाहर कर देना चाहिए। फिर हिन्दुस्तान में तो आतंक के लिए कोई वजह ही नहीं है। अगर ब्रिटेन को मरना भी पड़ा तो वह कठिनाई से और बहादुरी के साथ मरेगा। हम हार के समाचार सुन सकते हैं, पर हमें पस्तहिम्मती की बात कभी सुनाई न पड़ेगी। जो कुछ घटित होगा, व्यवस्थापूर्वक घटित होगा।

इसलिए जो लोग मेरी बात पर कान देते हैं उनसे मैं कहूँगा कि सदा की तरह अपना रोजगार या काम करते जाओ। जमा की हुई रकमों को मत निकालो, न नोटों को नकदी में बदलने की जल्दबाजी करो। अगर तुम सावधान हो तो तुम्हें कोई नया खतरा न उठाना पड़ेगा। अगर हममें विप्लव उठ खड़ा हो तो जमीन में गड़े हुए या तिजोरियों में रखे हुए धन को बैंक या कागज की बनिस्बत ज्यादा सुरक्षित न समझना चाहिए। वैसे तो इस वक्त हर चीज में खतरा है। ऐसी हालत में तुम जैसे हो वैसे बने रहना ही सबसे अच्छा है। तुम्हारा धीरज, अगर ज्यादा लोग उसका अनुसरण करें, बाजार में स्थिरता लायेगा। अराजकता के खिलाफ़ वह सबसे बड़ा प्रतिबन्ध होगा। इसमें शक नहीं कि ऐसे वक्त में गुण्डई का डर रहता है। पर इसका मुक़ाबला करने

के लिए तुम्हें खुद तैयार रहना चाहिए। गुण्डे सिर्फ बुज़दिल लोगों के बीच पनप सकते हैं। पर जो लोग हिंसात्मक या अहिंसात्मक रूप से अपनी रक्षा करने के लायक हैं उनसे उनको कोई रियायत नहीं मिल सकती। अहिंसात्मक आत्म-रक्षण में अपने जान-माल के बारे में साहसिकता की वृत्ति होती है। अगर उसपर दृढ़ रहा जाये तो तो अन्त में वह गुण्डई का निश्चित इलाज साबित होगा। लेकिन अहिंसा एक दिन में तो सीखी नहीं जा सकती। इसके लिए अभ्यास और आचरण की जरूरत है। आप अभी से इसे सीखना शुरू कर कसते हैं। अपको अपनी जान या माल या दोनों को कुर्बान करने को तैयार होना चाहिए। अगर हिंसात्मक या अहिंसात्मक किसी तरह से अपनी रक्षा करना आप नहीं जानते तो अपनी सारी कोशिशों के बावजूद सरकार आपको बचाने में समर्थ न होगी। चाहे कोई सरकार कितनी ही ताक़तवर हो, जनता की मदद के बिना इसे नहीं कर सकती। अगर ईश्वर भी सिर्फ उन्हींकी मदद करता है जो खुद अपनी मदद करते हैं, तो नाशमान सरकारों के सम्बन्ध में यह बात कितनी सत्य होगी। हिम्मत मत हारो और यह मत सोचो कि कल कोई सरकार न होगी और अराजकता-ही-अराजकता रह जायेगी। आप खुद अभी सरकार बन सकते हैं और जिस आफत की आप कल्पना करते हैं उसमें तो आपको सरकार बनना ही पड़ेगा। नहीं तो आप नष्ट हो जायेंगे।

'हरिजन-सेवक' : ८ जून, १९४०

: १२ :

हिटलरशाही से कैसे पेश आयें ?

हिटलर अन्त में कैसा ही साबित हो, हिटलरशाही का जो अर्थ बन गया है वह हम जानते हैं। इसका अर्थ है बल का नग्न और क्रूर प्रयोग, जिसे ठीक विज्ञान में घटा दिया गया है और वैज्ञानिक शोध के साथ जिसे काम में लाया जा रहा है। इसका असर लगभग अदम्य होता है।

सत्याग्रह के शुरूआत के दिनों में, जबकि उसे निष्क्रिय प्रतिरोध ही कहा जाता था, जोहान्सबर्ग के 'स्टार' पत्र को शस्त्रास्त्र से खूब सज्जित सरकार के खिलाफ मुट्ठी भर ऐसे भारतीयों को उठते हुए देखकर, जो निःशस्त्र ही नहीं बल्कि चाहते तो भी संगठित हिंसा के अनुपयुक्त थे, बड़ा आश्चर्य हुआ। उनपर रहम खाकर उसने एक व्यंग-चित्र छापा, जिसमें सरकार को अदम्य बलसूचक स्टीमरोलर का रूप दिया गया था और निष्क्रिय प्रतिरोध को ऐसे हाथी की शकल दी गयी थी जो अपनी जगह पर आराम के साथ अडिग बैठा हुआ था। उसे अविचलित बल बतलाया गया था। अदम्य और अचल बल के बीच जो द्वन्द्व था

उसकी बारीकी में व्यंग चित्रकार अच्छी तरह पहुँच गया। उस वक्त एक खिंच पड़ी हुई थी। नतीजा जो हुआ वह हम जानते ही हैं। जिसे अदम्य चित्रित किया गया था उसका सत्याग्रह के अचल बल ने, जिसे हम बदले की भावना के बग़ैर कष्ट सहना कह सकते हैं, सफलतापूर्वक प्रतिरोध किया।

उस वक़्त जो बात सच साबित हुई वह अब भी उतनी ही सच हो सकती है। हिटलरशाही को हिटलरशाही तरीकों से कभी हराया नहीं जा सकेगा। उससे तो दसगुनी तेज़ या ऊँचे दर्जे की हिटलरशाही का ही पोषण होगा। हमारे सामने जो कुछ हो रहा है वह तो हिंसा और हिटलरशाही की भी निष्फलता का ही प्रदर्शन है।

हिटलरशाही की असफलता से मेरा क्या मतलब है, यह मैं बतला दूँ। इसने छोटे राष्ट्रों को उनकी स्वतंत्रता से वंचित कर दिया है। इसने फ्रांस को शांति-प्रार्थना करने के लिए वाध्य किया है। जब यह लेख छपेगा, उस वक्त तक शायद ब्रिटेन को भी अपने सम्बन्ध में कुछ निश्चय कर लेना पड़े। मेरी दलील के लिए तो फ्रांस का पतन ही काफ़ी है। मेरे ख़याल में, जो अनिवार्य था उसके आगे सिर झुकाकर और मूर्खतापूर्ण आपसी कत्लेआम में भागी बनने से इन्कार करके फ्रांसीसी राजनीतिज्ञों ने असाधारण साहस का परिचय दिया है। अपना सब कुछ खोकर फ्रांस के विजयी बनने का कोई अर्थ नहीं है। स्वतन्त्रता का जिन्हें उपभोग करना है उन सभी का उसे प्राप्त करने

में खात्मा हो जाये तो स्वतन्त्रता-प्राप्ति का वह प्रयत्न उपहास्य हो जाता है। उस हालत में वह महत्त्वाकांक्षा का निन्दनीय संतोष बन जाता है। फ्रांसीसी सैनिकों की वीरता विश्वविख्यात है। लेकिन शांति का प्रस्ताव रखने में फ्रांसीसी राजनीतिज्ञों ने उससे भी बड़ी जो बहादुरी बतलाई है उसे भी दुनिया को जान लेना चाहिए। मेरे खयाल में फ्रांसीसी राजनीतिज्ञों ने यह मार्ग सच्चे सैनिकों को शोभा देनेलायक पूरे समानपूर्ण तरीके से ग्रहण किया है। इसलिए मुझे आशा करनी चाहिए कि हेर हिटलर इसके लिए कोई अपमानपूर्ण शर्तें न लगाकर यह दिखलायेंगे कि हालाँकि वह लड़ निर्दयता के साथ सकते हैं, मगर कम-से-कम शान्ति के लिए वह दयाहीनता से काम नहीं ले सकते।

अब हम फिर अपनी दलील पर आयें। विजय प्राप्त कर लेने पर हिटलर क्या करेंगे ? क्या इतनी सारी सत्ता को वह पचा सकते हैं ? व्यक्तिगत रूप में तो वह भी उसी तरह खाली हाथ इस दुनिया से जायँगे जैसे कि सिकन्दर गये थे जो उनके बहुत प्राचीन पूर्ववर्ती नहीं हैं। जर्मनों के लिए वह एक शक्तिशाली साम्राज्य की मालिकी का आनन्द नहीं बल्कि टूटते हुए साम्राज्य को सँभालने का भारी बोझ छोड़ जायेंगे, क्योंकि सब जीते हुए राष्ट्रों को वे सदा-सर्वदा पराधीन नहीं बनाये रख सकते, और इस बात में भी मुझे सन्देह है कि भावी पीढ़ी के जर्मन उन कामों में शुद्ध गर्वानुभव करेंगे जिनके लिए कि वे हिटलरशाही को जिम्मेदार ठहरायेंगे। हिटलर की इज्जत वे प्रतिभाशाली, वीर,

अनुपम संगठन-कर्त्ता आदि के रूप में जरूर करेंगे। लेकिन मुझे आशा करनी चाहिए कि भविष्य के जर्मन अपने महापुरुषों के बारे में भी विवेक से काम लेने की कला सीख जायेंगे। कुछ भी हो, मेरे खयाल में यह तो मानना ही होगा कि हिटलरने जो मानव-रक्त बहाया है उससे संसार की नैतिकता में अणुमात्र भी वृद्धि नहीं हुई है।

इसके प्रतिकूल, आज के यूरोप की हालत की जरा कल्पना तो कीजिए। चेक, पोल, नार्वेवासी, फ्रांसीसी और अँग्रेज सब ने अगर हिटलर से यह कहा होता तो कितना अच्छा होता कि "विनाश के लिए आपको अपनी वैज्ञानिक तैयारी करने की जरूरत नही है। आपकी हिंसा का हम अहिंसा से मुकाबिला करेंगे। इसलिए टैंकों, जंगी जहाजों और हवाई जहाजों के बगैर ही आप हमारी अहिंसात्मक सेना को नष्ट कर सकेंगे।

इसपर यह कहा जा सकता है कि इसमें फर्क सिर्फ यही रहेगा कि हिटलर ने खूनी लड़ाई के बाद जो कुछ पाया है वह उसे लड़ाई के बगैर ही मिल जाता। बिलकुल ठीक। लेकिन यूरोप का इतिहास तब बिलकुल जुदे रूप में लिखा जाता। अब जिस तरह अकथनीय बर्बरताओं के बाद कब्जा किया गया है तब शायद (लेकिन सिर्फ शायद ही) अहिंसात्मक प्रतिरोध में ऐसा किया जाता। लेकिन अहिंसात्मक प्रतिरोध में सिर्फ वही मारे जाते जिन्होंने जरूरत पड़ने पर अपने मारे जाने की तैयारी कर ली होती और वे किसी को मारे व किसीके प्रति कोई दुर्भाव

रखे बिना मरते। मैं यह कहने का साहस करता हूँ कि उस हालत में यूरोप ने अपनी नैतिकता को काफी बढ़ा लिया होता और अन्त में, मेरा खयाल है, नैतिकता का ही शुमार होता है। और सब व्यर्थ है।

यह सब मैंने यूरोप के राष्ट्रों के लिए लिखा है। लेकिन हमारे ऊपर भी यह लागू होता है। अगर मेरी दलील समझ में आ जाये, तो क्या हमारे लिए यह समय ऐसा नहीं है कि हम बलवानों की अहिंसा में अपने निश्चित विश्वास की घोषणा करके यह कहें कि हम हथियारों की ताकत से नहीं बल्कि अहिंसा की ताकत से अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करना चाहते हैं ?

'हरिजन-सेवक' : २२ जून, १६४०

: १३ :

हरेक अंग्रेज़ के प्रति

१८९६ में मैंने दक्षिण अफ्रीका में अंग्रेजों के नाम एक अपील निकाली थी। वह अपील वहाँ के मजदूरों और व्यापारी-वर्ग के हिन्दुस्तानियों की खातिर निकाली थी। उसका असर भी हुआ था। उस अपील का हेतु कितने ही महत्त्व का क्यों न रहा हो, मगर मेरी नजर में आज की इस अपील के हेतु के सामने वह तुच्छ था। मेरी हरेक अंग्रेज से—चाहे वह दुनिया के किसी भी हिस्से में हो– यह प्रार्थना है कि वह राष्ट्रों के परस्पर के ताल्लुक़ात और दूसरे मामलों का फैसला करने के लिए युद्ध का मार्ग छोड़कर अहिंसा का मार्ग स्वीकार करें। आपके राज-नेताओं ने यह घोषणा की है कि यह युद्ध प्रजातन्त्र के असूल की रक्षा के लिए लड़ा जा रहा है। युद्ध की न्याययुक्तता सिद्ध करने के लिए और भी बहुत-से ऐसे कारण दिये गये हैं। आप वह सब अच्छी तरह जानते हैं।

मैं आपसे यह कहता हूँ कि इस युद्ध के समाप्त होने पर जीत चाहे किसी भी पक्ष की हो, प्रजातन्त्र का कहीं नामोनिशान भी

नहीं मिलेगा। यह युद्ध मनुष्यजाति पर एक अभिशाप और चेतावनी के रूप में उतरा है। यह युद्ध शापरूप है, क्योंकि आज तक कभी इन्सान इन्सानियत को इस क़दर नहीं भूला था, जितना कि वह इस युद्ध के असर के नीचे भूल रहा है। लड़नेवालों में आज फ़र्क ही नहीं किया जाता, कोई भी इन्सान या कोई भी चीज़ नहीं छोड़ी जाती। झूठ बोलने को एक कला बना दिया गया है। ब्रिटेन छोटे-छोटे राष्ट्रों की रक्षा करनेवाला कहा जाता था, पर एक-एक करके कम-से-कम आज तो वे सब राष्ट्र ग़ायब हो चुके हैं। यह युद्ध एक चेतावनीरूप भी है। अगर लोग कु़दरत की इस चेतावनी से जाग्रत न हुए, तो इन्सान बिल्कुल हैवान बन जायेगा। सच तो यह है कि आज इंसान की करतूतें हैवान को भी शर्मिंदा कर रही हैं। मैं कु़दरत की इस चेतावनी का अर्थ युद्ध छिड़ते ही समझ गया था। मगर मेरी यह हिम्मत नहीं थी कि मैं आपसे कुछ कहूँ, किंतु आज ईश्वर ने मुझे हिम्मत दे दी है और मौक़ा भी अभी हाथ से नहीं निकल गया है।

मेरी दरख़्वास्त है कि युद्ध बन्द किया जाये। इसलिए नहीं कि आप लोग लड़ने से थक गये हैं, बल्कि इसलिए कि युद्ध दरअसल बुरी चीज़ है। आपलोग नाज़ीवाद का नाश करना चाहते हैं, मगर आप नाज़ीवाद की कच्ची-पक्की नक़ल करके नाज़ीवाद का कभी नाश नहीं कर सकेंगे। आपके सिपाही भी आज जर्मन सिपाहियों की ही तरह सर्वनाश करने में लगे हुए हैं। फ़र्क सिर्फ इतना ही है कि शायद आपके सिपाही इतनी सम्पूर्णता से

तबाही का काम नहीं करते, जितना कि जर्मन सिपाही। अगर यह सही है, तो शीघ्र ही, जर्मन सिपाहियों से ज्यादा नहीं तो उतनी ही सम्पूर्णता को आप लोग प्राप्त कर लेंगे। और किसी शर्त पर आप युद्ध में जीत नहीं सकते! दूसरे शब्दों में, आप लोगों को नाज़ियों से अधिक निर्दय बनना होगा। कोई भी हेतु, चाहे वह कितना ही न्याययुक्त क्यों न हो, आज प्रतिक्षण जो अन्धाधुन्ध क़त्लेआम हो रहा है, उसे जायज़ नहीं ठहराया जा सकता। मैं आपसे कहता हूँ कि यदि किसी हेतु से जिस तरह के जुल्म ढाये जा रहे हैं उनकी ज़रूरत पड़ती है, तो वह कभी न्याययुक्त नहीं कहा जा सकता।

मैं नहीं चाहता कि ब्रिटेन हारे। मगर मैं यह भी नहीं चाहता कि वह पाशविक बल की परीक्षा में जीते, भले ही वह पशुबल बाहुबल के रूप में प्रदर्शित किया जाये या बुद्धिबल के रूप में। आपका बाहुबल तो जगत्-प्रसिद्ध है। क्या आपको यह प्रदर्शन करने की ज़रूरत है कि आपका बुद्धिबल भी तबाही करने में सबसे ज्यादा शक्तिशाली है? मुझे आशा है कि आप लोग नाज़ियों के साथ इस किस्म के मुक़ाबले में उतरना अपनी बेइज्जती समझेंगे। मैं आप लोगों के सामने एक बहुत ज्यादा बहादुरी और बहुत ज्यादा शराफ़त का तरीक़ा रखता हूँ। यह तरीक़ा बहादुर-से-बहादुर सिपाही की शान के लायक है। मैं चाहता हूँ कि आप नाज़ियों का सामना बिना हथियारों के करें, या फ़ौजी भाषा में कहा जाये तो अहिंसा के हथियार से मुक़ाबला

करें। मैं चाहता हूँ कि आप अपनी और मनुष्यजाति की रक्षा के लिए मौजूदा हथियारों को निकम्मा समझकर फेंक दें। आप हेर हिटलर और सिन्योर मुसोलिनी को बुलायें कि आइए हमारे इस कई खूबसूरत इमारतोंवाले सुन्दर द्वीप पर आप कब्जा कर लीजिए। आप यह सब उन्हें दे देंगे, मगर अपना दिल और आत्मा उन लोगों को हर्गिज नहीं देंगे। ये साहबान आपके घर पर कब्जा करना चाहें, तो आप अपने घरों को खाली कर देंगे। अगर वे लोग आपको बाहर भी न जाने दें, तो आप सब-के-सब मर्द, औरत और बच्चे, कट जायेंगे, मगर उनकी अधीनता स्वीकार नहीं करेंगे। इस तरीके को मैंने अहिंसक असहयोग का नाम दिया है, और हिन्दुस्तान में यह तरीका काफ़ी हदतक सफल भी हुआ है। हिन्दुस्तान में आपके नुमाइन्दे मेरे इस दावे से इन्कार कर सकते हैं। अगर वे ऐसा करेंगे, तो मुझे उनपर दया आयेगी। वे आपसे कह सकते हैं कि हमारा असहयोग पूरी तरह अहिंसात्मक नहीं था; उसकी जड़ में द्वेष था। अगर वे लोग यह गवाही देंगे, तो मैं इससे इन्कार नहीं करूँगा। अगर हमारा असहयोग पूरी तरह हिंसात्मक रहता, अगर तमाम असहयोगियों के मन में आपके प्रति प्रेम भरा रहता, तो मैं दावे से कहता हूँ कि आप लोग जिस हिन्दस्तान के आज स्वामी हैं, उसके शिष्य होते, आप हम लोगों की अपेक्षा बहुत ज्यादा कुशलता से इस हथियार को सम्पूर्ण बनाते और जर्मनी, इटली और उनके साथियों का इसके द्वारा सामना करते। तब यूरोप का

पिछले चन्द महीने का इतिहास दूसरी ही तरह लिखा गया होता। यूरोप की भूमि पर निर्दोष रक्त की नदियाँ न बहतीं, इतने छोटे-छोटे राष्ट्रों की हत्या न होती और द्वेष से यूरोप के लोग आज अन्धे न बन जाते। यह एक ऐसे आदमी की अपील है, जो अपने काम को अच्छी तरह जानता है। मैं पचास वर्ष से लगातार एक वैज्ञानिक की बारीकी से अहिंसा के प्रयोग और उसकी छिपी हुई शक्तियों को शोधने का प्रयत्न कर रहा हूँ। मैंने जीवन के हरेक क्षेत्र में अहिंसा का प्रयोग किया है। घर में, संस्थाओं में, आर्थिक और राजनैतिक क्षेत्र में, एक भी ऐसे मौक़े का मुझे स्मरण नहीं है कि जहाँ अहिंसा निष्फल हुई हो। जहाँपर कभी निष्फलता-सी देखने में आई, मैंने उसका कारण अपनी अपूर्णता को समझा है। मैंने अपने लिए कभी सम्पूर्णता का दावा नहीं किया। मगर मैं यह दावा करता हूँ कि मुझे सत्य, जिसका दूसरा नाम ईश्वर है, के शोध की लगन लगी रही है। इस शोध के सिलसिले में अहिंसा मेरे हाथ आई। इसका प्रचार मेरे जीवन का उद्देश्य है। मुझे अगर ज़िन्दा रहने में कोई रस है, तो वह सिर्फ़ इस उद्देश को पूरा करने के लिए ही है।

मैं दावा करता हूँ कि मैं ब्रिटेन का आजीवन और निःस्वार्थ मित्र रहा हूँ। एक वक्त ऐसा था कि मैं आपके साम्राज्य पर भी मुग्ध था। मैं समझता था कि आपका राज्य हिन्दुस्तान को फ़ायदा पहुँचा रहा है। मगर जब मैंने देखा कि वस्तु-थिति तो दूसरी ही है, इस रास्ते से हिन्दुस्तान का भला नहीं हो सकता,

तब मैंने अहिंसक तरीके से साम्राज्यवाद का सामना करना शुरू किया और आज भी कर रहा हूँ। मेरे देश की क़िस्मत में आखिर कुछ भी लिखा हो, आप लोगों के प्रति मेरा प्रेम वैसा ही कायम है और रहेगा। मेरी अहिंसा सारे जगत् के प्रति प्रेम माँगती है और आप उस जगत् का कोई छोटा हिस्सा नहीं है। आप लोगों के प्रति मेरे इस प्रेम ने ही मुझ से यह निवेदन लिखवाया है। ईश्वर मेरे एक-एक शब्द को शक्ति दे। उसीके नाम से मैंने यह लिखना शुरू किया था और उसी के नाम से बन्द करता हूँ। ईश्वर आपके राजनेताओं को समझ और हिम्मत दे कि वे मेरी प्रार्थना का उचित प्रतिफल दे सकें। मैंने वाइसराय साहब से कहा है कि अगर ब्रिटिश सरकार को ऐसा लगे कि मेरी इस अपील के हेतु को आगे बढ़ाने के लिए मेरी मदद उन्हें उपयोगी होगी, तो मेरी सेवायें उनके आगे हाजिर हैं।

'हरिजन सेवक' : १३ जुलाई १९४०

: १४ :

मुझे पश्चात्ताप नहीं है

हरेक अंग्रेज के प्रति वह निवेदन लिखकर मैंने एक और बोझ अपने सिर पर ले लिया है। बिना ईश्वर की मदद के मैं इसे उठाने के लायक नहीं हूँ। अगर उसकी इच्छा होगी कि मैं इसे उठाऊँ, तो वह उठाने की मुझे शक्ति भी देगा।

मैंने अपने लेख जब अधिकतर गुजराती में ही लिखने का निश्चय किया, तब मुझे यह पता नहीं था कि मुझे वह निवेदन लिखना होगा। उसे लिखने का विचार तो एकाएक ही उठा, और उसके साथ-ही उसे लिखने की हिम्मत भी आ गई। कई अंग्रेज और अमेरिकन मित्र बहुत दिनों से आग्रह कर रहे थे कि मैं उनको रास्ता बताऊँ, पर मैं उनके आग्रह के वश नहीं हुआ था। मुझे कुछ सूझता नहीं था। मगर वह निवेदन लिखने के बाद, अब मुझे उसकी जो प्रतिक्रिया हो रही है उसका पीछा करना ही चाहिए। अनेक लोग मुझे इस सम्बन्ध में पत्र लिख रहे हैं। सिवाय एक गुस्से से भरे तार के, अंग्रेजों ने उस निवेदन की मित्रभाव से ही आलोचना की है, और कुछ अंग्रेजों ने तो

उसकी क़द्र भी की है।

वायसराय साहब ने मेरी तजवीज ब्रिटिश सरकार के सामने रखी, इसके लिए मैं उनका आभारी हूँ। इस बारे में जो पत्र-व्यवहार हुआ है, वह या तो पाठकों ने देख लिया होगा, या इस अङ्क में देखेंगे। यद्यपि मेरे निवेदन के इससे बेहतर उत्तर की ब्रिटिश सरकार से आशा नहीं की जा सकती थी, तो भी मैं इतना कह दूँ, कि ब्रिटिश सरकार के विजय पाने तक लड़ते जाने के निश्चय के ज्ञान ने ही मुझसे यह निवेदन लिखाया था। इसमें शक नहीं कि यह निश्चय स्वाभाविक है, और सर्वोत्तम ब्रिटिश परम्परा के योग्य भी है। मगर इस निश्चय के अन्दर भयंकर हत्याकांड निहित है। इस चीज के जानते हुए लोगों को अपने ध्येय की प्राप्ति के लिए कोई बेहतर और ज्यादा वीरतापूर्ण रास्ता ढूँढ़ना चाहिए, क्योंकि शान्ति की विजय युद्ध की विजय से अधिक प्रभावशाली होती है। अंग्रेज अहिंसक रास्ता अख्त्यार करते, तो इसका अर्थ यह नहीं था कि वह चुपचाप निन्दनीय तरीके से जर्मनी के सामने झुक जाते। अहिंसा का तरीका शत्रु को हक्का-बक्का बनाकर रख देता, और युद्ध की सारी आधुनिक कला और चालबाजियों को निकम्मा बना देता। नया विश्व-तन्त्र भी, जिसके कि आज सब स्वप्न देख रहे हैं, इसमें से निकल आता। मैं मानता हूँ कि अन्त तक युद्ध लड़कर अथवा दोनों पक्ष अन्त में थकान के मारे कैसी भी कच्ची-पक्की सुलह करलें, उसमें से नया विश्व-तन्त्र पैदा करना असम्भव है।

अब एक मित्र ने अपने पत्र में जो दलीलें पेश की हैं, उनको लेता हूँ :

"दो अंग्रेज़ मित्र जो आपके प्रति बहुत आदर-भाव रखते हैं, कहते हैं कि आपके हरेक अंग्रेज के प्रति लिखे निवेदन का आज कोई असर नहीं हो सकता। आम जनता से यह आशा नहीं रखी जा सकती, कि वह एकदम अपना रुख बदल ले, और समझ के साथ ऐसा करे। सच तो यह है कि जबतक अहिंसा में हार्दिक विश्वास न हो, बुद्धि से इस चीज़ को समझना अशक्य है। जगत् को आपके ढाँचे में ढालने का वक्त तो युद्ध के बाद आयेगा। वे समझते हैं कि आपका रास्ता सही रास्ता है, मगर कहते हैं कि उसके लिए बेहद तैयारी की, शिक्षा की और भारी नेतत्व की ज़रूरत है, और उनके पास आज इनमें में ऐसी एक भी चीज़ नहीं है। हिन्दुस्तान के बारे में वह कहते हैं कि सरकार का ढंग शोचनीय है। जिस तरह कैनाडा आजाद है, उसी तरह हिन्दुस्तान को भी बहुत अरसे पहले आजाद कर देना चाहिए था, और हिन्दुस्तान के लोगों को अपना विधान खुद बनाने देना चाहिए। मगर जो बात उनकी समझ में नहीं आती वह है हिन्दुस्तान की आज तुरन्त पूर्ण स्वतन्त्रता की माँग। दूसरा कदम यह होगा कि ब्रिटेन को लड़ाई में मदद न देना, जर्मनी के सामने झुकना, और फिर अहिंसक तरीके से उसका सामना करना। इस ग़लतफ़हमी को दूर करने के लिए आपको अपना अर्थ ज्यादा तफ़सील से समझाना होगा। यह एक सच्चे आदमी के दिल पर हुआ असर है।"

यह निवेदन आज असर पैदा करने के हेतु से लिखा गया था। वह असर हिसाब करके, तोल-माप के जरिये, पैदा नहीं हो सकता था। अगर दिल में यकीन हो जाता कि मेरा रास्ता सही रास्ता सही रास्ता था, तो उस पर अमल करना आसान था। जनता के मन पर दबाव के वक्त असर होता है। मेरे निवेदन का असर नहीं हुआ, इससे जाहिर होता है कि या तो मेरे शब्दों में शक्ति नहीं, या ईश्वर की ही कुछ ऐसी इच्छा है कि जिसका हमें पता नहीं। यह निवेदन व्यथित हृदय से निकला है। मैं उसे रोक नहीं सकता था। यह निवेदन केवल उसी क्षण के लिए नहीं लिखा गया था। मुझेपूर्ण विश्वास है कि उसमें बताया गया सत्य शाश्वत है।

अगर आज से भूमिका तैयार न की गई, तो युद्ध के अन्त में जब चारों ओर खिन्नता और थकान का वातावरण होगा, नया तंत्र बनाने का समय ही नहीं रह जायेगा नया तन्त्र जो भी होगा वह जाने-अनजाने आज से हम जो प्रयत्न करेंगे, उसीका परिणाम होगा। दरअसल, प्रयत्न तो मेरा निवेदन निकलनेसे पहले ही शुरू हो चुका था। आशा है कि निवेदन ने उसे उत्तेजन दिया होगा, और एक निश्चित दिशा दिखाई होगी। गैर अधिकारी नेताओं और ब्रिटिश प्रजा का मत ढालने वालों को मेरी सलाह है कि यदि उन्हें यकीन हो गया है कि मेरा रास्ता सही है, तो वे उसे स्वीकार कराने का प्रयत्न करें। मेरे निवेदन ने जो महान प्रश्न उठाया है, उसके सामने हिन्दुस्तान की आज़ादी का प्रश्न तुच्छ बन जाता है। मगर मैं इन दो अंग्रेज़ मित्रों के साथ सह

मत हूँ कि ब्रिटिश सरकार का ढंग शोचनीय है। लेकिन इन मित्रों ने हिन्दुस्तान की आज़ादी की कल्पना करके उसके जो नतीजे निकाले है वह सरासर ग़लत है। वह भूल जाते हैं कि मैं इस चित्र से बाहर हूँ जिनके सिर पर कार्य समिति के पिछले प्रस्ताव कि जिम्मेदारी है, उनकी धारणा यही रही है कि स्वतन्त्र हिन्दुस्तान ब्रिटेन के साथ सहयोग करेगा। उनके पास जर्मनी के आगे झुकने या उसका अहिंसक तरीके. से सामना करने का तो कोई प्रश्न ही नही उठता।

मगर, यद्यपि विषय दिलचस्प और ललचानेवाला है तो भी मुझे हिन्दुस्तान की आज़ादी और उसके फलितार्थों का विचार करने के लिए यहाँ नहीं ठहरना चाहिए।

मेरे सामने इस भाव के पत्र और अखबार की कतरनें पड़ी हैं कि जब 'कांग्रेस ने हिंसक फौज के ज़रिये हिन्दुस्तान की रक्षा की तैयारी न करने की आपकी सलाह न मानी, तो आप अंग्रेजों को यह सलाह कैसे दे सकते हैं और उनसे कैसे आशा रख सकते हैं कि वे इसे स्वीकार करेंगे?' यह दलील देखने में ठीक मालूम देती है, मगर सिर्फ देखने में ही। आलोचक कहते हैं कि जब मैं अपने लोगों को ही न समझा सका, तो मुझे यह आशा रखने का कोई हक नही कि आज जीवन और मौत की लड़ाई के मँझधार पड़ा ब्रिटेन मेरी बात सुनेगा। मेरा तो जीवन में एक खास ध्येय है। हिन्दुस्तान की करोड़ों की जनता ने अंग्रेजों की तरह युद्ध के कड़वे स्वाद नहीं चखे। ब्रिटेन ने जिस मकसद

की दुनिया के सामने घोषणा की थी, अगर उसे हासिल करना है तो उसे अपनी नीति बिलकुल बदल देनी होगी। मुझे ऐसा लगता है कि मैं जानता हूँ कि क्या परिवर्तन करने की ज़रूरत है। जिस विषय की यहाँ चर्चा हो रही है उसमें मेरी कार्य-समिति को न समझा सकने की बात लाना असंगत है। ब्रिटेन और हिन्दुस्तान की परिस्थिति में कोई साम्य ही नहीं है। इसलिए मुझे वह निवेदन लिखने पर थोड़ा-सा भी पश्चात्ताप नहीं है। मैं इस बात पर क़ायम हूँ कि निवेदन लिखने में मैंने ब्रिटेन के एक आजीवन मित्र का काम किया है।

एक लेखक प्रत्युतर में लिखते हैं, "हेर हिटलर को अपना निवेदन भेजो न !" पहली बात तो यह है कि मैंने हेर हिटलर को भी लिखा था। मेरे पत्र भेजने के कुछ समय बाद वह पत्र अखबारों में छपा भी था। दूसरी बात यह है कि हेर हिटलर को मेरा अहिंसक रास्ता अख्त्यार करने के लिए कहना कुछ अर्थ नहीं रखता। हेर हिटलर विजय-पर-विजय प्राप्त कर रहे हैं। उनसे तो मैं यही कह सकता हूँ कि अब बस करो। वह मैं कह चुका हूँ। मगर ब्रिटेन आज अपनी रक्षा के लिए लड़ रहा है। उनके हाथ में मैं अहिंसक असहयोग का सचमुच प्रभावकारी शस्त्र रख सकता हूँ। मेरा रास्ता ठुकराना हो, तो उसके गुण-दोषों का विचार करके ठुकराया जाये, अनुचित तुलनायें करके या लूली-लँगड़ी दलीलें दे करके नहीं। मैं समझता हूँ कि मैंने जो सवाल उठाया है वह सारे संसार के लिए महत्त्वपूर्ण है। अहिंसक

मार्ग की उपयोगिता को सब आलोचक स्वीकार करते हैं। मगर वह ख़ामख़ाह मान लेते हैं कि मनुष्य का स्वभाव ऐसा बना है कि वह अहिंसक तैयारी का बोझ नहीं उठायेगा। लेकिन यह तो प्रश्न को टालने की बात है। मैं कहता हूँ कि आपने यह तरीक़ा अच्छी तरह आज़माया ही नहीं है। जहाँतक आज़माया गया है, परिणाम आशाजनक ही मिला है।

'हरिजन-सेवक' : २७ जुलाई, १९४०

: १५ :

इतना ख़राब तो नहीं !

एक मित्र, एक अंग्रेज़ भाई के पत्र में से निम्नलिखित अंश भेजते हैं :—

"क्या आपको लगता है कि महात्माजी के 'हरेक अंग्रेज़ के प्रति' निवेदन का एक भी अंग्रेज़ के दिल पर अच्छा असर हुआ होगा ? शायद इस अपील के कारण जितना वैर-भाव बढ़ा है, उतना हाल में किसी दूसरी घटना से नहीं बढ़ा। आजकल हम एक अजीबोग़रीब और नाज़ुक ज़माने में से गुज़र रहे हैं। क्या करना चाहिए, यह तय करना बहुत ही कठिन है। कम-से-कम जिस बात में साफ़ ख़तरा दिखता हो, उससे तो बचना ही चाहिए। जहाँतक मैं देखता हूँ, महात्माजी की शुद्ध अहिंसा की नीति हिन्दुस्तान को अवश्य ही बर्बादी की तरफ़ ले जायेगी। मैं नहीं जानता कि वह ख़ुद कहाँतक इसपर चलेंगे। उनमें अपने-आपको अपनी सामग्री के मुताबिक बनाने की अजीब शक्ति है।"

मैं तो जानता हूँ कि एक नहीं, अनेक हृदयों पर मेरे निवेदन का अच्छा असर हुआ है। मैं यह भी जानता हूँ कि कई अंग्रेज़

मित्र चाहते थे कि मैं कोई ऐसा क़दम उठाऊँ। मगर उन्हें मेरी यह बात पसन्द आई है, यह मेरे लिए चाहे कितनी ही खुशी की बात क्यों न हो, मैं इसपर सन्तोष मानकर बैठना नहीं चाहता। मेरे पास इन अंग्रेज़ भाई की टीका की कीमत काफ़ी है। इस ज्ञान से मुझे सावधान होना चाहिए। अपने विचारों को प्रकट करने के लिए शब्दों को और ज्यादा सावधानी से चुनना चाहिए। मगर नाराज़गी के डर से, भले ही वह नाराज़गी प्रिय-से-प्रिय मित्र की क्यों न हो, जो धर्म मुझे स्पष्ट नज़र आता है, उससे मैं हट नहीं सकता। यह निवेदन निकालने का धर्म इतना जबरदस्त और आवश्यक था कि मेरे लिए उसे टालना अशक्य था। मैं यह लेख इस वक्त लिख रहा हूँ—यह बात जितनी निश्चित है, उतनी ही निश्चित यह बात भी है कि जिस ऊँचाई पर पहुँचने का मैंने ब्रिटेन को निमन्त्रण दिया है, किसी न-किसी दिन दुनिया को वहाँ पहुँचना ही है। मेरी श्रद्धा है कि जल्दी ही दुनिया जब इस शुभ दिन को देखेगी, तब हर्ष के साथ वह मेरे इस निवेदन को याद करेगी। मैं जानता हूँ कि वह दिन इस निवेदन से नज़दीक आ गया है।

अंग्रेज़ों से अगर यह प्रार्थना की जाये कि वे जितने बहादुर आज हैं उससे भी ज्यादा बहादुर और अच्छे बनें, तो इसमें किसी भी अंग्रेज़ को बुरा क्यों लगे? ऐसा करने के लिए वह अपने को असमर्थ बता सकता है, मगर उसके दैवी स्वभाव को जागृत करने के लिए निवेदन उसे बुरा क्यों लगे?

इस निवेदन के कारण भला, वैर-भाव क्यों पैदा हो ? निवेदन के तर्ज में या विचार में वैर-भाव पैदा करनेवाली कोई चीज़ ही नहीं है। मैंने लड़ाई बंद करने की सलाह नहीं दी। मैंने तो सिर्फ यह सलाह दी है कि लड़ाई को मनुष्य-स्वभाव के योग्य, दैवी तत्त्व के लायक ऊँचे आधार पर ले जाया जाये। अगर ऊपर लिखे पत्र का छिपा अर्थ यह है कि यह निवेदन निकालकर मैंने नाज़ियों के हाथ मज़बूत किये हैं, तो ज़रा-सा भी विचार करने पर यह शंका निर्मूल सिद्ध हो जायेगी। अगर ब्रिटेन लड़ाई का यह नया तरीका अख़्तियार कर ले, तो हेर हिटलर उससे परेशान हो जायेंगे, पहली ही चोट पर उन्हें पता चल जायेगा कि उनका अस्त्र-शस्त्र का सामान सब निकम्मा हो गया है।

योद्धा के लिए तो युद्ध उसके जीवन का साधन है, भले ही वह युद्ध आत्मरक्षण के लिए हो या दूसरों पर आक्रमण करने लिए अगर उसे यह पता चल जाता है कि उसकी युद्ध-शक्ति का कुछ भी उपयोग नहीं, तो वह बेचारा निर्जीव-सा हो जाता है।

मेरे निवेदन में एक बुज़दिल आदमी एक बहादुर राष्ट्र को अपनी बहादुरी छोड़ने की सलाह नहीं दे रहा है, न एक सुख का साथी एक मुसीबत में आ फँसे अपने मित्र का मज़ाक ही उड़ा रहा है। मैं पत्र-लेखक को कहूँगा कि इस खुलासे को ध्यान में रखकर फिर से एकबार मेरा वह निवेदन पढ़ें।

हाँ, हेर हिटलर और सब आलोचक एक बात कह सकते हैं कि मैं एक बेवकूफ आदमी हूँ, जिसको दुनिया का या मनुष्य-

स्वभाव का कुछ ज्ञान ही नहीं है। यह मेरे लिए एक निर्दोष प्रमाण-पत्र होगा, जिसके कारण न वैरभाव पैदा होना चाहिए, न क्रोध। यह प्रमाण-पत्र निर्दोष होगा, क्योंकि मुझे पहले भी कई ऐसे प्रमाण-पत्र मिल चुके हैं। उनकी यह सबसे नई आवृत्ति होगी और मैं आशा रखता हूँ कि सबसे आखिर की नहीं, क्योंकि मेरे बेवकूफी के प्रयोग अभी खत्म नहीं हुए।

जहाँतक हिन्दुस्तान का वास्ता है, अगर वह मेरी शुद्ध अहिंसा की नीति को अपनायें, तो उससे उसे नुक़सान पहुँच ही नहीं सकता। अगर हिन्दुस्तान एकमत से उसे नामंजूर करता है, तो भी उससे देश को किसी प्रकार का नुक़सान नहीं होगा। नुक़सान अगर होगा तो उन लोगों का, जो 'मूर्खता' से उसपर अमल करते रहेंगे। पत्र-लेखक ने यह कहकर कि 'महात्माजी अपने-आपको अपनी सामग्री के मुताबिक बनाने की अजीब शक्ति रखते हैं' मेरा बड़ा भारी गुण बताया है। मेरी सामग्री की बाबत मेरे स्वाभाविक ज्ञान ने मुझे ऐसी श्रद्धा दी है कि जो हिलाई नहीं जा सकती। मुझे अन्दर से महसूस होता है कि सामग्री तैयार है। मेरी इस अन्दरूनी आवाज़ ने आजतक मुझे कभी धोखा नहीं दिया। मगर मुझे पिछले अनुभव की बुनियाद पर कोई बड़ी इमारत नहीं खड़ी करनी चाहिए। 'मुझे अलम् है देव, एक डग।'

'हरिजन-सेवक' : ३ अगस्त, १९४०

: १६ :

नाज़ीवाद का नग्न रूप

एक हालैण्ड-निवासी लिखते हैं :—

"आपको शायद याद होगा कि सन् १९३१ ई० में जब आप स्वीज़रलैंड में रोमाँ रोलाँ साहब के मेहमान थे, तब मैंने आपकी एक तस्वीर खींची थी। इससे पहले भी हिन्दुस्तान में स्वतन्त्रता हासिल करने के लिए जो आन्दोलन चल रहा था उसका मैं रुचि-पूर्वक अध्ययन करता था, खासकर आपके नेतृत्व और युद्ध-पद्धति का। आपको मालूम है कि मैं हालैंड की प्रजा हूँ। कई साल तक मैं जर्मनी में रह चुका हूँ। वहाँ अपनी आजीविका के लिए मैं कलाकार का धंधा करता था। जब सात साल पहले नाज़ी-शाही ने जर्मनी पर अपनी सत्ता जमा ली, तो मेरी अन्तरात्मा में कई शंकाएँ पैदा होने लगीं, खास तौर पर अपने तीन बच्चों की तालीम के बारे में मुझे कई बार हुआ कि आपसे सलाह करूँ, मगर पुनर्विचार करने पर मैंने वह ख़याल छोड़ दिया। अपना मामला सन्तोषकारक रूप से खुद ही सुलझा लिया।

एक साल से मैं म्युनिक का अपना घर छोड़कर हालैंड में कुछ

समय के लिए आ गया था। जब लड़ाई शुरू हुई थी तो जर्मनी में लौटने के बदले मैं हालैंड में ही रह गया, क्योंकि अपने बच्चों को मैं जर्मन के युद्ध के उन्मादकारी असर से बचाना चाहता था। दसवीं मई को हर प्रकार की कुटिल और सूक्ष्म युक्ति की मदद से आखिर हालैंड पराजित किया गया। चार दिन की बेदरेग बमबाजी के बाद हम इंग्लैंड भाग गये, और अब जावा जा रहे हैं। जावा मेरा जन्म-स्थान है इस नयी आबादी में मैं अपने लिए आजीविका का कोई साधन ढूंढने की कोशिश करूँगा—शोषण के हेतु से नहीं, पर एक अतिथि के तौर पर।

यूरोप ने शस्त्र-बल और हिंसा को अपना आधार बना लिया है। पिछले जमाने में तो फिर भी संग्राम में धर्म-युद्ध के नियमों का कुछ पालन होता था। मगर नाजीवाद ने इन सब चीजों को ख़ैरबाद कह दिया है। और मैं सच्चे दिल से यह कह सकता हूं कि आजकल के जर्मनी ने जिस तरह मैली दग़ाबाज़ी, धूर्तता और कायरता का उपयोग अपना हेतु सिद्ध करने के लिए किया है इस तरह किसी और देश ने नहीं किया। छोटे बच्चों को परवरिश के साथ ही हिंसा करा-कराकर बड़ा किया जाता है। नाज़ी जर्मनी में बच्चों को अपने माँ-बाप के प्रति फ़रेब और दगाबाजी बाकायदा तौर पर सिखाई जाती है। वैसे ही, तरह-तरह की और अनीतियाँ भी उन्हें सिखाई जाती हैं।

हेर मेन रौशनिंग ने "हिटलर के उद्गार" और "विध्वंसकारी क्रांति" के नाम से दो पुस्तकें लिखी हैं। श्री रौशनिंग हिटलर के

एक पुराने निकट के साथी हैं। आजकल के नाजी जर्मनी का इन पुस्तकों में एक जीता-जागता चित्र मिलता है और हर किसी को उसे पढ़ना चाहिए। हेर हिटलर का हेतु ही नैतिक मर्यादाओं का विध्वंस करना है और जर्मन नवयुवक वर्ग में से अधिकांश इसका शिकार बन चुके हैं।

'हरिजन' में आपका "जर्मनी में यहूदी प्रश्न" शीर्षक लेख मैंने ख़ास दिलचस्पी से पढ़ा था, क्योंकि वहाँ मेरे बहुत-से यहूदी मित्र हैं। आपने उस लेख में कहा है कि युद्ध के लिए अगर कभी कोई वाजिब कारण हो सकता है, तो जर्मनी के खिलाफ़ युद्ध के लिए आज वह है। मगर उसी लेख में आपने यह भी लिखा है कि अगर आप यहूदी होते, तो अहिंसा द्वारा नाजियों का दिल पिघलाने की कोशिश करते। अभी-अभी आपने ब्रिटेन को यह सलाह भी दी है कि शस्त्र से मुकाबला किये बिना वह अपने रमणीय द्वीप को हमला करनेवाले जर्मनों के हवाले कर दें और बाद में अहिंसा द्वारा विजेताओं को जीत लें। संसार के इतिहास में शायद ऐसा दूसरा कोई व्यक्ति न होगा कि जो अहिंसा के अमल के बारे में आपसे अधिक जानता हो। इस बारे में आपके विचारों के प्रभाव ने न सिर्फ़ हिन्दुस्तान में बल्कि दुनिया में बाहर भी करोड़ों के दिलों में आपके प्रति पूज्य भाव और प्रेम पैदा कर दिया है। × × × मगर आजकल के नाज़ी जर्मनी में नवयुवक-वर्ग अपने दिलोदिमाग़ दोनों का व्यक्तित्व खो बैठा है, और इन्सान मिटकर वह मानों यंत्र बन

गया है। जर्मनी के युद्ध-तंत्र में भी पूरी-पूरी यन्त्र की निष्ठुरता है। मशीनों को चलानेवाले आदमी भी मानों भावना-शून्य और हृदय-विहीन मशीन ही हैं। बेकस औरतों और बच्चों की शरीर-शय्या के ऊपर से अपने खुश्की के फौलादी जहाज चलाकर उन्हें कुचलने में उन्हें दरेग़ नहीं आता, न असैनिक शहरों पर बम के गोले बरसाकर सैकड़ों और हजारों की तादाद में बच्चों और औरतों को क़त्ल करने में ही। इन्हीं बच्चों और औरतों को धावा बोलते वक्त अपने आगे रखकर ढाल के तौर पर इस्तेमाल किया जाता है। ज़हरमिली खुराक बाँटकर हलाल करने के किस्से भी बन चुके हैं। मैं खुद कई ऐसी घटनाओं के बारे में गवाही दे सकता हूँ। आपके कई अनुयायियों के साथ जर्मनी के खिलाफ सफलता से अहिंसा का प्रयोग करने के बारे में मेरी बातचीत हुई है। मेरा एक मित्र विलायत में युद्ध के जर्मन क़ैदियों पर जिरह करने के काम में लगा था। उसपर इन जर्मन नवयुवकों की आध्यात्मिक संकुचितता और अधःपतन का ऐसा कड़ा आघात हुआ कि उसे क़बूल करना पड़ा कि ऐसे यंत्ररूप नौजवानों के सामने अहिंसा का प्रयोग चल नहीं सकता। सबसे भयंकर बात तो यह है कि इस ७ साल के अर्से में हिटलर इस हदतक इनका नैतिक पतन करने में कामयाब हुआ है। दुनिया के इतिहास में मुझे दूसरी ऐसी कोई मिसाल दिखाई नहीं देती कि किसी प्रजा की यहाँतक आध्यात्मिक अधोगति हुई हो।"

इस मित्र ने अपना नाम व पता-ठिकाना मुझे भेजा है। मुझे

नाज़ी क्रूरता और निष्ठुरता की इतनी चिन्ता नहीं। मुझे चिन्ता में डालनेवाली तो इस मित्र की यह मान्यता लगती है कि हिटलर या उनकी जर्मन प्रजा इतनी यंत्रवत् और जड़वत् बन चुकी है कि अब अहिंसा का प्रयोग असर डाल ही नहीं सकता। मगर अहिंसा अगर काफ़ी दर्जेतक चलाई जाये, तो ज़रूर उसका असर हेर हिटलर पर और उनके धोखे के जाल में फँसी हुई प्रजा पर तो और भी निश्चित रूप पड़नेवाला है। कोई आदमी हमेशा के लिए यंत्रवत् नहीं बनाया जा सकता। जहाँ उसके सिर पर से सत्ता का भारी बोझ उठा कि वह अपनी सच्ची प्रकृति के अनुसार फिर चलने लगता है। अपने परिमित अनुभव पर से जो सिद्धान्त इस मित्र ने गढ़ लिया है वह बताता है कि अहिंसा की गति को उसने समझा ही नहीं। बेशक, ब्रिटिश सरकार ऐसे प्रयोगों में नहीं पड़ सकती कि जिनमें उसे कामचलाऊ भी श्रद्धा नहीं, और इस तरह अपने-आपको वह जोखिम में नहीं डाल सकती। लेकिन अगर मुझे मौक़ा दिया जाये, तो मेरी शारीरिक शक्ति दुर्बल होते हुए भी असम्भव-जैसी दिखाई देनेवाली बात के लिए भी मैं बेधड़क प्रयास कर सकता हूँ; क्योंकि अहिंसा का साधक अपने बल पर मैदान में नहीं उतरता, वह तो ईश्वरीय बल पर आधार रखता है। इसलिए अगर मेरे लिए रास्ता खोल दिया जाये, तो मुझे यकीन है कि ईश्वर मुझे शारीरिक बल भी दे देगा और मेरी वाणी में वह अमोघ प्रभाव भी पैदा कर देगा। कुछ भी हो, मेरी तो सारी ज़िन्दगी

इस तरह श्रद्धा के प्रयोगों में बीती है। मुझमें अपनी कोई स्वतन्त्र शक्ति है, यह मैंने कभी माना ही नहीं। निरीश्वरवादी लोगों को इसमें शायद लाचारी और बेबसी की बू आयेगी। अपने-आपको शून्य बनाकर ईश्वर सारे-का-सारा आधार रखने को अगर न्यूनता माना जाये, तो मुझे क़बूल करना पड़ेगा कि अहिंसा की जड़ में यही न्यूनता भरी है।

'हरिजन-सेवक' : १७ अगस्त, १९४०

: १७ :

"निर्बल बहुमत' की कैसे रक्षा हो?

इस्लामिया कालेज के प्रोफेसर तैमूर एक पत्र में लिखते हैं :—

"इस समस्या के युग में अहिंसा की गुप्त शक्तियों की झाँकी कराकर आपने जगत को अपना ऋणी बनाया है। बाहरी आक्रमण से शस्त्र-धारण किये बिना हिन्दुस्तान की रक्षा करने का जो प्रयोग आप करना चाहते हैं वह बेशक युग-युगांतरों में सबसे ज़बरदस्त नैतिक प्रयोग के तौर पर माना जायेगा। इस प्रयोग के सिर्फ़ दो ही नतीजे आ सकते हैं - या तो हमला करनेवालों की आत्मा उनके सामने खड़ी निर्दोष प्रजा के प्रेम से जाग्रत होगी और वह अपने किये पाप पर पशेमान होंगे, या यह होगा कि अपने अहंकार के उन्माद में अहिंसा को शारीरिक शक्ति के क्षय और निर्वीर्यता का चिन्ह मानकर वह समझने लगें कि एक कमज़ोर प्रजा को पराजित करके उस पर हुकूमत करना ही एक सही और ठीक बात है। जर्मन तत्त्ववेत्ता नीत्शे का यह सिद्धांत था और उसीपर आज हिटलर अमल कर रहा है। इस तरह भौतिक शक्ति से

सम्पन्न राष्ट्र एक ग़रीब और शरीर से निर्बल प्रजा को पराजित कर पाये, तो इसमें भारी हानि है। पराजित राष्ट्र के चन्द इने-गिने व्यक्ति भले अपने आत्म-बल का जौहर बताकर विजेता के आगे सिर झुकाने से इन्कार करें, मगर प्रजा का अधिकांश तो आखिर उसकी शरण लेगा ही और अपनी प्राण-रक्षा की ख़ातिर गुलामी की गिड़गिड़ाने की रीति ग्रहण करेगा। ऐसे लोगों में बड़े-बड़े विज्ञानवेत्ता तत्त्वज्ञ और कलाकार लोग भी आ सकते हैं। प्रतिभा और नैतिक बल तो भिन्न-भिन्न चीजें हैं। वे एक ही व्यक्ति में अक्सर इकट्ठे नहीं पाये जाते। जो सशक्त है उसे अपनी स्वतंत्रता की रक्षा के लिए फौज की ज़रूरत नहीं, वह अपने शरीर की आहुति देकर भी अपनी आत्मा की रक्षा कर लेगा। मगर ऐसे लोग इने-गिने ही हो सकते हैं। हरेक देश में बहुमत तो कमज़ोर निर्बल प्रजा का ही होता है। उन्हें रक्षा की आवश्यकता रहती है। सवाल यह है कि अहिंसा के उपाय से उनकी रक्षा कैसे हो? देश की अहिंसा के उपाय से रक्षा करने की नीति पर विचार करते हुए हरेक देश-भक्त आदमी के सामने यह एक समस्या खड़ी हो जाती है। क्या आप 'हरिजन' द्वारा इसपर कुछ प्रकाश डालेंगे?"

इसमें शक नहीं कि "निर्बल बहुमत" को रक्षा की ज़रूरत है। अगर सब-की-सब प्रजा सिपाही होती—फिर भले वह शस्त्रधारी हो या अहिंसात्मक—तो इस क़िस्म की चर्चा का मौका ही न आता। ऐसा दुर्बल बहुमत हमेशा हर देश में रहता ही है, जिसे दुर्जनों से रक्षा की ज़रूरत रहती है। इसका पुराना तरीक़ा

तो हम जानते ही हैं। उसको हम स्वीकार करलें, तो उसके अन्त में नाजीवाद को आना ही है। नाज़ीवाद की ज़रूरत महसूस की गई थी, तभी इसका जन्म हुआ। एक सारी-की-सारी क़ौम पर एक घोर अत्याचार लादा गया था। उसको हटाने के लिए एक बड़ी चीख-पुकार मच रही थी। इस अत्याचार का बदला लेने को हिटलर पैदा हुआ। आजकल के युद्ध का चाहे आखिरी परिणाम कुछ भी क्यों न हो, जर्मनी अपने को आगे की तरह फिर अपमानित नहीं होने देगा। मानव-जाति भी ऐसे अत्याचार को दोबारा सहन नहीं करने की। मगर एक ग़लती को मिटाने के लिए, एक अत्याचार का बदला लेने के लिए हिंसा का ग़लत रास्ता अख़्त्यार करके, और इस हेतु से हिंसा-शास्त्र को लगभग सम्पूर्णता के दर्जेतक पहुँचाकर के हिटलर ने जर्मन प्रजा को ही नहीं, बल्कि मानव-जाति के अधिकांश को हैवान-सा बना दिया है। अभी इस क्रिया का अन्त हमने नहीं देखा, क्योंकि इसके मुकाबले में ब्रिटेन को भी—जबतक वह हिंसा के पुरातन मार्ग को पकड़े बैठा है—अपने सफल रक्षण के लिए नाज़ी तरीके अपनाने होंगे। इस तरह हिंसा-नीति को ग्रहण करने का कुदरती और अनिवार्य परिणाम यही होगा कि इन्सान—और इसमें "निर्बल बहुमत" भी आ जाता है—दर्जा-ब-दर्जा अधिक पाशवी स्वभाववाला बने, क्योंकि निर्बल बहुमत को आवश्यक मात्रा में अपने रक्षकों को सहयोग देना ही होगा।

अब फर्ज कीजिए कि इसी बहुमत की अहिंसा-नीति द्वारा

रक्षा की जाती है। पाशविकता, धोखेबाजी, द्वेष आदि को तो इसमें स्थान ही न होगा। नतीजा यह होगा कि दिन-ब-दिन रक्षक दल का नैतिक वातावरण सुधरेगा। इसके साथ ही, जिसकी रक्षा की जा रही है, उस "निर्बल बहुमत" का भी नैतिक उत्थान होगा। इसमें केवल दर्जे का फर्क हो सकता है, मगर क्रिया में नहीं !

केवल इस तरीके में मुश्किल तब पेश आती है, जब हम अहिंसा के साधन को अमल में लाने की कोशिश करते हैं। हिंसात्मक युद्ध के लिए शस्त्रधारी सिपाही ढूँढने में कोई दिक्कत नहीं पेश होती। मगर अहिंसक सिपाहियों का रक्षा-बल बनाते हुए हमें बड़ी सावधानी से भरती करनी पड़ती है। रुपये या तनख्वाह की लालच से तो ऐसे सिपाही पैदा नहीं किये जा सकते। यह खेल ही दूसरे प्रकार का है। मगर पचास वर्ष तक अहिंसक युद्ध के अनुभव के परिणामस्वरूप भविष्य के लिए आज मेरी आशा मजबूत बनी है। "दुर्बल बहुमत" की अहिंसा-शस्त्र द्वारा रक्षा करने में मुझे काफ़ी कामयाबी मिली है। मगर अहिंसा-जैसे दैवी शस्त्र के अन्दर छुपी हुई प्रचंड शक्ति को खोज निकालने के लिए पचास साल का अर्सा चीज़ क्या है ? इसलिए इस पत्र के लेखक की तरह जो लोग अहिंसा-शस्त्र के प्रयोग में रस लेने लगे हैं, उन्हें चाहिए कि यथा शक्ति और यथावसर इस प्रयोग में शामिल हों। यह प्रयोग अब एक निहायत मुश्किल मगर रोचक मंजिल पर पहुँचा है। इस अपरिचित महासागर पर मैं खुद अपना रास्ता अभी ढूँढ रहा हूँ। मुझे क़दम-क़दम पर

में कितनी गहराई में हूँ इसका माप लेना पड़ता है । कठिनाइयों से मेरी हिम्मत कम नहीं होती, मेरा उत्साह और बढ़ता ही है ।

'हरिजन-सेवक' : २४ अगस्त, १९४०

: १८ :

कुछ टीकाओं के उत्तर

अखिल-भारतीय कांग्रेस कमेटी के हाल के प्रस्ताव और उसमें दिये गये मेरे भाषण पर मीठी-कड़वी सब तरह की काफी टीकाएँ हुई हैं। उनमें से कुछ का जवाब मैं यहाँ देने की कोशिश करूँगा, क्योंकि उनका सम्बन्ध मौलिक सिद्धांतों के साथ है। १७ तारीख़ के 'टाइम्स आफ इंडिया' ने अपनी सौम्य टीका में मुझे यह कहने के लिए आड़े हाथों लिया है कि यूरोप के लोग नहीं जानते कि आख़िर वे लड़ किस चीज के लिए रहे हैं? मैं जानता था कि मेरे इस वाक्य से कई लोग नाराज होंगे। परन्तु खरी बात सुनाना जब प्रस्तुत ही नहीं बल्कि धर्म बन जाता है तो उसे सुनाना ही पड़ता है, चाहे वह कड़वी ही क्यों न लगे। मेरी धारणा है कि इस बारे में उलटी मुझसे काफी ढील हुई है, मेरे मूल वाक्य में मैंने 'युद्धरत राष्ट्र' यह शब्द प्रयोग किया था, न कि 'यूरोप की जनता'। दोनों में केवल शब्दभेद नहीं, मर्मभेद है। मैंने कई बार बताया है कि राष्ट्र और उनके नेता दो अलग-अलग चीजें हैं। नेतागण तो खूब अच्छी तरह समझते हैं कि उन्हें

लड़ाई किसलिए चाहिए ? इसका मतलब यह नहीं कि वे जो कुछ कहते हैं ठीक है। परन्तु न तो अंग्रेज, न जर्मन और न इटालियन जनता यह जानती है कि वह क्यों युद्ध में पड़ी है ? सिर्फ उसकी अपने नेताओं पर श्रद्धा है इसीलिए वह उनके पीछे-पीछे चलती है। मेरा कहना यह है कि आधुनिक युद्ध-जैसे भीषण हत्याकांड में इस तरह अन्धश्रद्धा से कूद पड़ना ठीक नहीं। मेरी इतनी बात तो मेरे टीकाकार भाई भी कबूल करेंगे कि अगर आज जर्मन और इटालियन जनता से पूछा जाय कि अंग्रेज बच्चों की निर्दयतापूर्वक हत्या करना या सुन्दर अंग्रेज घरों की ईंट से ईंट बजाना किस तरह से मुनासिब या जरूरी है, तो वह कुछ समझा न सकेंगे। मगर टाइम्स' शायद यह कहना चाहता है कि इस बारे में अंग्रेज प्रजा औरों से निराली है; वह जानती है कि वह किसलिए लड़ रही है। जब मैं दक्षिण अफ्रीका में अंग्रेज सिपाहियों से पूछता था कि वे क्यों लड़ रहे हैं, तो वे मुझे कुछ जवाब न दे पाते थे। वे तो अंग्रेज कविरत्न टेनीसन की इस उक्ति के अनुयायी थे कि 'सिपाही का धर्म बहस करना नहीं, लड़ मरना है।' वे इतना भी नहीं जानते कि कूच करके उन्हें कहाँ जाना है ? अगर आज लंदन के लोगों से पूछूँ कि उनके हवाई जहाज आज बर्लिन की तबाही क्यों कर रहे हैं, तो वे मुझे औरों की अपेक्षा अधिक संतोषकारी जवाब न दे सकेंगे। अख़बारों में जो ख़बरें छपती हैं वे अगर भरोसे के क़ाबिल हैं तो अंग्रेजों की हिकमत और बहादुरी ने बर्लिन-निवासियों का जैसा कचूमर

निकाला है उसके मुकाबिले में जर्मन लोग लंदन पर कुछ भी नहीं कर सके। भला जर्मन जनता ने अंग्रेजी जनता का क्या बिगाड़ा है ? जो कुछ भी किया है वह तो उसके नेताओं ने किया है। उन्हें आप बेशक फाँसी पर लटकाएँ। मगर जर्मन प्रजा के घरों या उनकी गैरफौजी बस्ती की तबाही क्यों की जाती है ? उन्मत्त विध्वंसकता की यह प्रवृत्ति चाहे नाजीवाद के नाम से चलाई जाय, चाहे प्रजातंत्रवाद या स्वतन्त्रता का पवित्र नाम लेकर, नतीजा तो उसका एक ही होता है—मौत और तबाही, अनाथों और विधवाओं का विलाप, बेघरबार मारे-मारे फिरनेवाले गरीबों का रुदन। मैं नम्रतापूर्वक, निश्चयपूर्वक और दृढ़तापूर्वक अपनी सारी शक्ति लगाकर कहना चाहता हूँ कि स्वतन्त्रता और लोक-शासन जैसे पवित्र हेतु भी जब निर्दोष रक्त से रंगे जाते हैं तो वे अपनी पवित्रता खोकर पापमूल बन जाते हैं। मुझे तो ईसा की अमर आत्मा आज यह पुकार करती हुई सुनाई देती है कि 'ये लोग जो अपने को मेरे बच्चे कहते हैं जानते नहीं कि वे आज क्या कर रहे हैं। वे मेरे स्वर्गस्थ पिता का व्यर्थ नाम लेते हैं और उसके मुख्य आदेश की अवज्ञा करते हैं।' अगर मेरे कानों ने मुझे धोखा नहीं दिया तो मैंने और भी बहुत से महानुभाव पुण्यपरायण व्यक्तियों को ऐसा ही कहते सुना है।

मैंने यह सत्य घोषणा क्यों की है ? इसलिए कि मेरा विश्वास है कि ईश्वर ने मुझे अमन और शान्ति का सुमार्ग जगत को बताने का निमित्त बनाया है। अगर ब्रिटेन को न्याय माँगना है तो ईश्वर

के दरबार में उसे साफ हाथ लेकर जाना चाहिए। आज़ादी और लोकशासन की रक्षा वह युद्ध में जर्मनी या इटली के जैसे तरीकों से युद्ध चलाकर नहीं कर सकेगा। हिटलर को हिटलर की पद्धति से मात करके वह बाद में अपनी तर्ज को बदल न सकेगा। गत युद्ध पुकार-पुकारकर हमें यही सिखाता है। इस तरह से प्राप्त की हुई विजय एक ख़तरनाक जाल और धोखे की टट्टी साबित होगी। मैं जानता हूँ कि आज मेरी पुकार अरण्यरुदन ही है, परन्तु एक दिन दुनिया इसकी सच्चाई को पहचानेगी। अगर प्रजातन्त्रवाद या स्वतन्त्रता को विनाश से सचमुच बचाना है तो वह शांत, परन्तु सशस्त्र मुकाबले से कहीं अधिक प्रभावशाली और तेजस्वी मुकाबले द्वारा ही हो सकेगा। यह मुकाबला सशस्त्र मुकाबले से अधिक वीरतापूर्ण और तेजस्वी इसलिए होगा कि इसमें जान लेने की बात नहीं, केवल जान पर खेल जाने की बात है।

'हरिजन-सेवक' : ५ अक्तूबर, १९४०

: २ :

म्यूनिक-संकट, यहूदियों का प्रश्न अबीसीनिया का युद्ध और अहिंसा

: १ :

चेकोस्लोवाकिया और अहिंसा का मार्ग

यह जानकर खुशी होनी ही चाहिए कि फ़िलहाल तो युद्ध का ख़तरा टल गया है। इसके लिए जो क़ीमत चुकानी पड़ी क्या शायद वह बहुत ज्यादा है? क्या इसके लिए शायद अपनी इज्ज़त से हाथ नहीं धोना पड़ा है? क्या यह संगठित हिंसा की विजय है? क्या हेर हिटलर ने हिंसा को संगठित करने का ऐसा नया तरीका ढूँढ़ निकाला है कि जिससे रक्तपात किये बिना ही अपना मतलब सिद्ध हो जाता है? मैं यह दावा नहीं करता कि यूरोप की राजनीति से मुझे जानकारी है। लेकिन मुझे ऐसा मालूम पड़ता है कि यूरोप में छोटे राष्ट्र अपना सिर ऊँचा रखकर कायम नहीं रह सकते। उन्हें तो उनके बड़े-बड़े पड़ोसी हज़म कर ही लेंगे और उन्हें उनके जागीरदार बनकर ही रहना पड़ेगा।

यूरोप ने चार दिन की दुनियवी जिन्दगी के लिए अपनी आत्मा को बेच दिया है। म्यूनिक में यूरोप को जो शान्ति प्राप्त हुई है वह तो हिंसा की विजय है। साथ ही वह उसकी हार भी है। क्योंकि इंग्लैंड और फ्रांस को अगर अपनी विजय का

निश्चय होता, तो वे चेकोस्लोवाकिया की रक्षा करने या उसके लिए मर मिटने के अपने कर्त्तव्य का पालन जरूर करते। मगर जर्मनी और इटली की संयुक्त हिंसा के सामने वे हिम्मत हार गये। लेकिन जर्मनी और इटली को क्या लाभ हुआ? क्या इससे उन्होंने मानव-जाति की नैतिक सम्पत्ति में कोई वृद्धि की है?

इन पंक्तियों के लिखने में उन बड़ी-बड़ी सत्ताओं से मेरा कोई वास्ता नहीं है। मैं तो उनकी पाशवी शक्ति से चौंधिया जाता हूँ। चेकोस्लोवाकिया की इस घटना में मेरे और हिन्दुस्तान के लिए एक सबक मौजूद है। अपने दो बलवान साथियों के अलग हो जाने पर चेक लोग और कुछ कर ही नहीं सकते थे। इतने पर भी मैं यह कहने की हिम्मत करता हूँ कि राष्ट्रीय सम्मान-रक्षा के लिए अहिंसा के शस्त्र का उपयोग करना अगर उन्हें आता होता; तो जर्मनी और इटली की सारी शक्ति का वे मुकाबला कर सकते थे। उस हालत में इंग्लैंड और फ्रांस को वे ऐसी शान्ति के लिए आरजू-मिन्नत करने की बेइज्जती से बचा सकते थे, जो वस्तुतः शान्ति नहीं है. और अपनी सम्मान-रक्षा के लिए वे अपने को लूटनेवालों का खून बहाये बिना मर्दों की तरह खुद मर जाते। मैं यह नहीं मानता कि ऐसी वीरता, या कहिए कि निग्रह, मानव-स्वभाव से कोई परे की चीज है। मानव-स्वभाव अपने असली स्वरूप में तो तभी आयगा जबकि इस बात को पूरी तरह समझ लिया जायगा कि मानव-रूप अख्त्यार करने के लिए उसे

अपनी पाशविकता पर रोक लगानी पड़ेगी। इस वक्त हमें मानव-रूप तो प्राप्त है, लेकिन अहिंसा के गुणों के अभाव में अभी भी हमारे अन्दर प्राचीनतम पूर्वज—'डार्विन' के बन्दर के संस्कार विद्यमान हैं।

यह सब मैं यों ही नहीं लिख रहा हूँ। चेकों को यह जानना चाहिए कि जब उनके भाग्य का फैसला हो रहा था तब कार्य-समिति को बड़ा कष्ट हो रहा था। एक तरह तो यह कष्ट बिलकुल खुदगर्ज़ी का था। लेकिन इसी कारण वह अधिक वास्तविक था। क्योंकि संख्या की दृष्टि से तो हमारा राष्ट्र एक बड़ा राष्ट्र है, लेकिन संगठित वैज्ञानिक हिंसा में वह चेकोस्लोवाकिया से भी छोटा है। हमारी आज़ादी न केवल ख़तरे में है, बल्कि हम उसे फिर से पाने के लिए लड़ रहे हैं। चेक लोग शस्त्रास्त्रों से पूरी तरह सुसज्जित हैं, जबकि हम लोग बिलकुल निहत्थे हैं। इसलिए समिति ने इस बात का विचार किया कि चेकों के प्रति हमारा क्या कर्त्तव्य है, और अगर युद्ध हो तो कांग्रेस को क्या करना चाहिए। क्या हम चेकोस्लोवाकिया के प्रति मित्रता जाहिर करके अपनी आजादी के लिए इंग्लैण्ड से सौदा करें, या वक़्त पड़ने पर अहिंसा के ध्येय पर कायम रहते हुए पीड़ित जनता से यह कहें कि हम युद्ध में शामिल नहीं हो सकते, फिर वह प्रत्यक्ष रूप में चाहे उस चेकोस्लोवाकिया की रक्षा के लिए ही क्यों न हो जिसका एकमात्र कसूर यह है कि वह बहुत छोटा होने के कारण अपने आप अपनी रक्षा नहीं कर सकता। सोच-विचार के बाद कार्य-समिति

करीब-करीब इस निर्णय पर आई कि वह इंग्लैण्ड से सौदा करने के इस अनुकूल अवसर को तो छोड़ देगी, लेकिन संसार की शान्ति, चेकोस्लोवाकिया की रक्षा और हिन्दुस्तान की आजादी की दिशा में संसार के सामने यह घोषित करके वह अपनी देन जरूर देगी कि सम्मानपूर्ण शान्ति का रास्ता निर्दोषों की पारस्परिक हत्या नहीं, बल्कि इसका एकमात्र सच्चा उपाय प्राणों तक की बाजी लगाकर सगठित अहिंसा को अमल में लाना है।

अपने ध्येय के प्रति वफ़ादार रहते हुए कार्य-समिति यही तर्कसम्मत और स्वाभाविक रास्ता अख्त्यार कर सकती थी, क्योंकि अगर हिन्दुस्तान अहिंसा से आजादी हासिल कर सकता है, जैसा कि कांग्रेसजनों का विश्वास है, तो उसी उपाय से वह अपनी स्वतंत्रता की रक्षा भी कर सकता है और इसलिए और इस उदाहरण पर चेकोस्लोवाकिया-जैसे छोटे राष्ट्र भी ऐसा ही कर सकते हैं।

युद्ध छिड़ जाता तो कार्य-समिति असल में क्या करती, यह मैं नहीं जानता। लेकिन युद्ध तो अभी सिर्फ टला है। साँस लेने के लिए यह वक़्त मिला है, इसमें मैं चेकों के सामने अहिंसा का रास्ता पेश करता हूँ। वे यह नहीं जानते कि उनकी किस्मत में क्या-क्या बदा है? लेकिन अहिंसा-मार्ग पर चल करके वे कुछ खो नहीं सकते। प्रजातन्त्रीय स्पेन का भाग्य आज झूले में लटक रहा है। और यही हाल चीन का भी है। अन्त में अगर ये सब हार जायें तो इसलिए नहीं हारेंगे कि इनका पक्ष न्यायोचित

नहीं है, बल्कि इसलिए कि विनाश या जन-संहार के विज्ञान में वे अपने विपक्षी की बनिस्बत कम कुशल हैं या इसलिए कि उनका सैन्यबल अपने विनाशियों की अपेक्षा कम है। प्रजातन्त्री स्पेन के पास अगर जनरल फ्रैंको के साधन हों या चीन के पास जापान की सी युद्ध-कला हो, अथवा चेकों के पास हर हिटलर की जैसी कुशलता हो तो उन्हें क्या लाभ होगा? मैं तो कहता हूँ कि अपने विरोधियों से लड़ते हुए मरना अगर बहादुरी है, और वह वस्तुतः है, तो अपने विरोधियों से लड़ने से इन्कार करके भी उनके आगे न झुकना और भी बहादुरी है। जब दोनों ही सूरतों में मृत्यु निश्चित है, तब दुश्मन के प्रति अपने मन में कोई भी द्वेष-भाव रखे बिना छाती खोलकर मरना क्या अधिक श्रेष्ठ नही है?

'हरिजन-सेवक' : ८ अक्तूबर, १९३८

: २ :

अगर मैं 'चेक' होता !

हेर हिटलर के साथ जो समझौता हुआ है उसे मैंने 'असम्मान-पूर्ण शान्ति' कहा है, लेकिन ऐसा कहने में ब्रिटिश या फ्रेंच राजनीतिज्ञों की निन्दा करने का मेरा कोई इरादा नहीं था। मुझे इस बारे में कोई सन्देह नहीं है कि श्री चैम्बरलेन इससे बेहतर किसी बात का ख़याल ही नहीं कर सकते थे; क्योंकि अपने राष्ट्र की मर्यादाओं का उन्हें पता था। युद्ध अगर रोका जा सकता हो तो वह उसे रोकना चाहते थे। युद्ध को छोड़कर, चेकों के पक्ष में उन्होंने अपना पूरा जोर लगाया। इसलिए आत्मसम्मान को भी छोड़ना पड़ा तो इसमें उनका कोई दोष नहीं है। हेर हिटलर या सिन्योर मुसोलिनी के साथ झगड़ा होने पर इस बार ऐसा ही होगा।

इससे अन्यथा कुछ हो ही नहीं सकता, क्योंकि प्रजातन्त्र खूनखराबी से डरता है। और जिस तत्त्वज्ञान को इन दोनों अधिनायकों ने अपनाया है वह खूनखराबी से बचना कायरता समझता है। वे तो संगठित हत्या की प्रशंसा में सारी कवि-कला

ख़र्च कर डालते हैं। उनके शब्द या काम में कोई धोखा नहीं है। युद्ध के लिए वे सदा तैयार रहते हैं। जर्मनी या इटली में उनके आड़े आनेवाला कोई नहीं है। वहाँ तो उनका शब्द ही क़ानून है।

श्री चैम्बरलेन या श्री दलादियर की स्थिति इससे भिन्न है। उन्हें अपनी पार्लमेण्टों और चैम्बरों को सन्तुष्ट करना पड़ता है। अपनी पार्टियों से भी उन्हें सलाह करनी पड़ती है। अगर अपनी ज़ुबान को उन्हें लोकतन्त्री भावनायुक्त रखना है, तो वे हमेशा युद्ध के लिए तैयार नहीं रह सकते।

युद्ध का विज्ञान शुद्ध और स्पष्ट अधिनायकत्व (डिक्टेटरशिप) पर ले जाता है। एकमात्र अहिंसा का विज्ञान ही शुद्ध प्रजातंत्र की ओर ले जानेवाला है। इंग्लैंण्ड, फ्रांस और अमेरिका को यह सोच लेना है कि वे इनमें से किसको चुनेंगे? यही इन दो अधिनायकों (डिक्टेटर) की चुनौती है।

रूस का अभी इन बातों से कोई मतलब नहीं है। रूस में तो एक ऐसा अधिनायक है जो शान्ति के स्वप्न देखता है और यह समझता है कि खून की नदियां बहाकर वह उसे स्थापित करेगा। रूसी अधिनायकत्व दुनिया के लिए कैसा होगा, यह अभी कोई नहीं कह सकता।

चेकों और उनके द्वारा उन सब देशों को, जो 'छोटे' या 'कमज़ोर' कहलाते हैं, मैं जो कुछ कहना चाहता हूँ उसकी भूमिका-स्वरूप यह सब कहना जरूरी था। चेकों से मैं कुछ

इसलिए कहना चाहता हूँ, कि उनकी दुर्दशा से मुझे शारीरिक और मानसिक वेदना हुई है और मुझे ऐसा लगा कि इस सिल-सिले में जो विचार मेरे दिमाग़ में चक्कर काट रहे थे उन्हें अगर उनपर प्रगट न करूँ तो वह मेरी कायरता होगी। यह तो स्पष्ट है कि छोटे राष्ट्र या तो अधिनायकों के आधीन हो जायँ या उनके संरक्षण में आने के लिए तैयार रहें, नहीं तो यूरोप की शान्ति बराबर ख़तरे में रहेगी। यथासम्भव पूरी सद्भावना रखते हुए भी इंग्लैण्ड और फ्रांस उनकी रक्षा नहीं कर सकते। उनके हस्तक्षेप का मतलब तो ऐसा रक्तपात और विनाश ही हो सकता है जैसा पहले कभी दृष्टिगोचर नहीं हुआ। इसलिए, अगर मैं चेक होता, तो इन दोनों राष्ट्रों को अपने देश की रक्षा करने की जिम्मेदारी से मुक्त कर देता। इतने पर भी मुझे जीवित तो रहना ही चाहिए। किसी राष्ट्र या व्यक्ति का आश्रित मैं नहीं बनूँगा। मुझे तो पूरी स्वतंत्रता चाहिए, नहीं मैं मर जाऊँगा। हथियारों की लड़ाई में जीतने की इच्छा करना तो निरी कोरी शेखी होगी। लेकिन जो मुझे अपनी स्वतंत्रता से वंचित करे उसकी इच्छा का पालन करने से इन्कार करके उसकी ताक़त की अवज्ञा कर इस प्रयत्न में मैं निरस्त्र मर जाऊँ, तो वह कोरी शेखी नहीं होगी। ऐसा करने में मेरा शरीर तो नष्ट हो जायगा, लेकिन मेरी आत्मा याने मान-मर्यादा की रक्षा हो जायगी।

अभी-अभी इस अपकीर्त्तिकारक शांति की जो घटना घटी

है, यही मेरा मौक़ा है। इस नदामत के कलंक को धोकर मुझे अब सच्ची स्वतंत्रता प्राप्त करनी होगी।

लेकिन एक हमदर्द कहता है, "हिटलर दया-मया कुछ नहीं जानता। आपका आध्यात्मिक प्रयत्न उसे किसी बात से नहीं रोकेगा।"

मेरा जवाब यह है कि "आपका कहना ठीक होगा। इतिहास में ऐसे किसी राष्ट्र का उल्लेख नहीं है, जिसने अहिंसात्मक प्रतिरोध को अपनाया हो। इसलिए हिटलर पर अगर मेरे कष्ट-सहन का असर न पड़े तो कोई बात नहीं, क्योंकि उससे मेरा कोई खास नुक़सान न होगा। मेरे लिए तो मेरी मान-मर्यादा ही सब कुछ है और उसका हिटलर की दया-भावना से कोई ताल्लुक़ नहीं। लेकिन अहिंसा में विश्वास रखने के कारण, मैं उसकी सम्भावनाओं को मर्यादित नहीं कर सकता। अभीतक उनका और उन जैसे दूसरों का यही अनुभव है कि मनुष्य पशुबल के आगे झुक जाते हैं। निःशस्त्र पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों का अपने अन्दर कोई कटुता रक्खे बिना अहिंसात्मक प्रतिरोध करना उनके लिए एक अद्भुत अनुभव होगा। यह तो कौन कह सकता है कि ऊँची और श्रेष्ठ शक्तियों का आदर करना उनके स्वभाव के ही विपरीत है। उनके भी तो वही आत्मा है जो मेरे है।"

लेकिन दूसरा हमदर्द कहता है, "आप जो कुछ कहते हैं वह आपके लिए तो बिलकुल ठीक है। पर जनता से आप इस श्रेष्ठ

बात का आदर करने की आशा कैसे करते हैं? वे तो लड़ने के आदि हैं। व्यक्तिगत वीरता में वे दुनिया में किसी से कम नहीं हैं। उन्हें अब अपने हथियार छोड़कर अहिंसात्मक प्रतिरोध की शिक्षा पाने के लिए कहने का आपका प्रयत्न मुझे तो व्यर्थ ही मालूम पड़ता है।"

"आपका कहना ठीक होगा। लेकिन मुझे अन्तरात्मा का जो आदेश मिला है उसका पालन करना ही चाहिए। अपने लोगों याने जनता तक मुझे अपना सन्देश जरूर पहुँचाना चाहिए। यह अपमान मेरे अन्दर इतना अधिक समा गया है कि इससे बाहर निकलने के लिए कोई रास्ता चाहिए ही। कम-से-कम मुझे तो उसी तरह प्रयत्न करना चाहिए जैसा कि प्रकाश मुझे मिला है।"

यही वह तरीका है जिसपर कि, मेरा खयाल है, अगर मैं चेक होता तो मुझे चलना चाहिए था। सब से पहले जब मैंने सत्याग्रह शुरू किया, तब मेरा कोई संगी-साथी नहीं था। सारे राष्ट्र के मुकाबले में हम सिर्फ तेरह हजार पुरुष, स्त्री और बच्चे थे, जिन्हें बिलकुल मटियामेट कर देने की भी उस राष्ट्र में क्षमता थी। मैं यह नहीं जानता था कि मेरी बात कौन सुनेगा। यह सब बिलकुल अचानक-सा हुआ। कुल १३,००० लड़े भी नहीं। बहुत-से पिछड़ गये। लेकिन राष्ट्र की लाज रह गई, और दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह से एक नये इतिहास का निर्माण हुआ।

खान अब्दुलगफ्फार खाँ शायद इसके और भी उपयुक्त

उदाहरण हैं, जो अपने को 'खुदाई खिदमतगार' कहते हैं और पठान जिन्हें 'फख्-ए-अफग़ान' कहकर प्रसन्न होते हैं। जब कि मैं ये पंक्तियाँ लिख रहा हूँ, वह मेरे सामने बैठे हुए हैं। उनकी प्रेरणा पर उनके कई हजार आदमियों ने हथियार बाँधना छोड़ दिया है। अपने बारे में तो उनका खयाल है कि उन्होंने अहिंसा की शिक्षा को हृदयंगम कर लिया है; पर अपने आदमियों के बारे में उन्हें निश्चय नहीं है। उनके आदमी यहाँ क्या कर रहे हैं वह सब अपनी आँखों से देखने के लिए ही मैं सीमाप्रान्त आया हूँ, या यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि वह मुझे यहाँ लाये हैं। यह तो मैं पहले से ही फौरन कह सकता हूँ कि इन लोगों को अहिंसा का ज्ञान बहुत कम है। इनका सबसे बड़ा खजाना तो अपने नेता में अटूट विश्वास है। इन शान्ति-सैनिकों को मैं ऐसा नहीं समझता जिन्होंने इस दिशा में सम्पूर्णता प्राप्त कर ली हो। मैं तो इनका उल्लेख सिर्फ इसी रूप में कर रहा हूँ कि एक सैनिक अपने साथियों को शांति-मार्ग पर लाने का ईमानदारी के साथ प्रयत्न कर रहा है। यह मैं कह सकता हूँ कि उनका यह प्रयत्न ईमानदारी के साथ किया जा रहा है और अन्त में यह चाहे सफल हो या असफल, भविष्य में सत्याग्रहियों के लिए यह शिक्षाप्रद होगा। मेरा उद्देश्य तो इतने से ही सफल हो जायगा कि मैं इन लोगों के दिलों तक पहुँचकर इन्हें यह महसूस करा दूँ कि अपनी अहिंसा से अगर ये अपने को सशस्त्र स्थिति से अधिक बहादुर अनुभव करते हों तभी ये उसपर

क़ायम रहें, नहीं तो उसे छोड़ दें क्योंकि ऐसा न होने पर तो वह कायरता का ही दूसरा नाम है, और जिन हथियारों को उन्होंने स्वेच्छा से छोड़ रक्खा है उन्हें फिर से ग्रहण करलें।

डा० बेनेस को मैं यही अस्त्र पेश करता हूँ, जो कि दरअसल कमजोरों का नहीं, बहादुरों का हथियार है; क्योंकि मन में किसी के प्रति कटुता न रखकर, पूरी तरह यह विश्वास रखते हुए कि आत्मा के सिवा और किसी का अस्तित्व नहीं रहता, दुनिया की ताकत के सामने, फिर वह कितनी ही बड़ी क्यों न हो, घुटने टेकने से दृढ़तापूर्वक इन्कार कर देने से बढ़कर कोई वीरता नहीं है।

'हरिजन-सेवक' : १५ अक्तूबर, १९३८

: ३ :

बड़े-बड़े राष्ट्रों के लिए अहिंसा

चेकोस्लोवाकिया पर लिखे गये मेरे हाल के लेखोंपर जो आलोचनाएँ हुईं, उनमें से एक का जवाब देना है।

कुछ आलोचकों का कहना है कि चेकों को मैंने जो उपाय सुझाया वह तुलनात्मक रूप से कमजोर है; क्योंकि अगर वह चेकोस्लोवाकिया जैसे छोटे राष्ट्रों के ही लिए है, और इंग्लैण्ड, फ्रांस या अमेरिका जैसे बड़े राष्ट्रों के लिए नहीं, तो उसका कोई महत्व भी हो तो भी वह अधिक मूल्यवान नहीं है।

लेकिन मैंने बड़े राष्ट्रों को जो यह बात नहीं सुझाई इसका कारण उन देशों का बड़ा होना, या दूसरे शब्दों में मेरी भीरुता तो है ही, पर इसकी एक और खास वजह है। बात यह है कि वे मुसीबत-जदा नहीं थे और इसलिए उन्हें किसी उपाय की भी जरूरत नहीं थी। डाक्टरी भाषा में कहूँ तो वे चेकोस्लोवाकिया की तरह रोगग्रस्त नहीं थे। उनके अस्तित्व को चेकोस्लोवाकिया की तरह कोई खतरा नहीं था। इसलिए महान् राष्ट्रों से मैं कोई बात कहता तो वह 'भैंस के आगे बीन बजाने' जैसी ही निष्फल होती।

अनुभव से मुझे यह भी मालूम हुआ कि सद्गुणों की खातिर लोग सद्गुणी मुश्किल से बनते हैं। वे तो आवश्यकतावश सद्गुणी बनते हैं। परिस्थितियों के दबाव से भी कोई व्यक्ति अच्छा बने तो उसमें कोई बुराई नहीं, लेकिन अच्छाई के लिए अच्छा बनना निस्सन्देह उससे श्रेष्ठ है।

चेकों के सामने सिवा इसके कोई उपाय ही न था कि या तो वे शान्ति के साथ जर्मनी की शक्ति के आगे सिर झुका दें या अकेले ही लड़कर निश्चित रूप से विनाश का खतरा उठाएँ। ऐसे अवसर पर ही मुझ जैसे के लिए यह आवश्यक मालूम हुआ कि वह उपाय पेश करूँ जिससे बहुत कुछ ऐसी ही परिस्थितियों में अपनी उपयोगिता सिद्ध कर दी है। चेकों से मैंने जो कुछ निवेदन किया, मेरी राय में, वह बड़े राष्ट्रों के लिए उतना ही उचित है।

हाँ मेरे आलोचक यह पूछ सकते हैं कि जबतक हिन्दुस्तान में ही मैं अहिंसा की सौ फी सदी सफलता करके न बतला दूँ तबतक किसी पश्चिमी राष्ट्र से उसके न कहने की जो कैद खुद ही अपने ऊपर मैंने लगा रक्खी है उससे बाहर मैं क्यों गया? और खासकर अब, जबकि मुझे इस बात में गम्भीर सन्देह होने लगा है कि कांग्रेसजन अहिंसा के अपने ध्येय या नीति पर वस्तुतः कायम भी हैं या नहीं? जब मैंने वह लेख लिखा तब कांग्रेस की वर्तमान अनिश्चित स्थिति और अपनी मर्यादा का मुझे जरूर ध्यान था। लेकिन अहिंसात्मक उपाय में मेरा विश्वास हमेशा की तरह दृढ़ था और मुझे ऐसा लगा कि ऐसे आड़े वक्त

चेकों को मैं अहिंसात्मक उपाय ग्रहण करने के लिए न कहूँ तो यह मेरी कायरता होगी; क्योंकि ऐसे करोड़ों आदमियों के लिए जो अनुशासन-हीन हैं और अभी हाल में पहले तक उसके आदी नहीं थे, जो बात अन्त में शायद असम्भव साबित हो, वह सम्मिलित रूप से कष्ट-सहन के लायक छोटे और अनुशासनयुक्त राष्ट्र के लिए सम्भव हो सकती है। मुझे ऐसा विश्वास रखने का कोई हक नहीं है कि हिन्दुस्तान के अलावा और कोई राष्ट्र अहिंसात्मक कार्य के उपयुक्त नहीं है। अब मैं जरूर कबूल करूंगा कि मेरा यह विश्वास रहा है और अब भी है कि अहिंसात्मक उपाय द्वारा अपनी स्वतन्त्रता फिर से प्राप्त करने के लिए हिन्दुस्तान ही सबसे उपयुक्त राष्ट्र है। इससे विपरीत आसारों के बावजूद, मुझे इस बात की उम्मीद है कि सारा जनसमुदाय जो कांग्रेस से भी बड़ा है, केवल अहिंसात्मक कार्य को ही अपनायेगा; क्योंकि भूमण्डल के समस्त राष्ट्रों में हमीं ऐसे काम के लिए सबसे अधिक तैयार हैं। लेकिन जब इस उपाय के तत्काल अमल का मामला मेरे सामने आया तो चेकों को उसे स्वीकार करने के लिए कहे बिना मैं न रह सका।

मगर बड़े-बड़े राष्ट्र चाहें, तो चाहे जिस दिन इसको अपनाकर गौरव ही नहीं बल्कि भावी पीढ़ियों की शाश्वत कृतज्ञता भी प्राप्त कर सकते हैं। अगर वे या उनमें कोई विनाश के भय को छोड़कर निःशस्त्र हो जायें तो बाकी सबके फिर से अक्लमन्द बनने में वे अपने आप सहायक होंगे। लेकिन उस हालत में इन बड़े-बड़े राष्ट्रों को साम्राज्यवादी महत्त्वकांक्षाओं तथा भूमण्डल के

असभ्य या अर्द्धसभ्य कहे जानेवाले राष्ट्रों के शोषण को छोड़कर अपने जीवन-क्रम को सुधारना पड़ेगा। इसका अर्थ हुआ पूर्ण क्रान्ति। पर बड़े-बड़े राष्ट्र साधारण रूप में विजय-पर-विजय प्राप्त करने की अपनी धारणाओं को छोड़कर जिस रास्ते पर चल रहे हैं उससे विपरीत रास्ते पर वे एकदम नहीं चल सकते। लेकिन चमत्कार पहले भी हुए हैं और इस बिल्कुल नीरस ज़माने में भी हो सकते हैं। गलती को सुधारने की ईश्वर की शक्ति को भला कौन सीमित कर सकता है! एक बात निश्चित है। शस्त्रास्त्र बढ़ाने की यह उन्मत्त दौड़ अगर जारी रही, तो उसके फलस्वरूप ऐसा जनसंहार होना लाजिमी है जैसा इतिहास में पहले कभी नहीं हुआ। कोई विजयी बाकी रहा तो जो राष्ट्र विजयी होगा उसकी विजय ही जीते-जी उसकी मृत्यु बन जायगी। इस निश्चित विनाश से बचने का सिवा इसके कोई रास्ता नहीं है कि अहिंसात्मक उपाय को उसके समस्त फलितार्थों के साथ साहसपूर्वक स्वीकार कर लिया जाय। प्रजातंत्र और हिंसा का मेल नहीं बैठ सकता। जो राज्य आज नाम के लिए प्रजातन्त्री हैं उन्हें या तो स्पष्ट रूप से तानाशाही का हामी हो जाना चाहिए, या अगर उन्हें सचमुच प्रजातन्त्री बनना है तो उन्हें साहस के साथ अहिंसक बन जाना चाहिए। यह कहना बिल्कुल वाहियात है कि अहिंसा का पालन केवल व्यक्ति ही कर सकते हैं, और राष्ट्र हर्गिज नहीं, जो व्यक्तियों से ही बने हैं।

'हरिजन-सेवक' : १२ नवम्बर, १९३८

: ४ :

यहूदियों का सवाल

मेरे पास ऐसे कई पत्र आये हैं, जिनमें फ़िलस्तीन के अरब-यहूदी प्रश्न पर तथा जर्मनी में यहूदियों पर होनेवाले जुल्म के बारे में मुझसे अपने विचार प्रकट करने के लिए कहा गया है। बड़ी झिझक के साथ मैं इस पेचीदा सवाल पर अपने विचार प्रकट करने का साहस करता हूँ।

यहूदियों से मेरी सहानुभूति है। दक्षिण अफ्रीका में उनके साथ मेरा निकट का सम्बन्ध रहा है। उनमें से कुछ तो मेरे जिन्दगीभर के साथी ही बन गये। इन मित्रों के द्वारा ही मुझे उन जुल्म-ज्यादतियों का बहुत-कुछ पता लगा, जो लम्बे अर्से से इन लोगों को झेलनी पड़ रही हैं। ये तो ईसाइयों में अछूत बने हुए हैं। ईसाइयों के द्वारा इनके साथ होनेवाला बर्ताव बहुत-कुछ उसी तरह का है जैसा कि सवर्ण हिन्दू अस्पृश्यों के साथ करते हैं। धर्म का सहारा, इस अमानुषिक बर्ताव के लिए, दोनों ही जगह लिया गया है। इसलिए यहूदियों के प्रति मेरी सहानुभूति का कारण उस मित्रता के अलावा यह एक सामान्य बात भी है।

लेकिन अपनी इस सहानुभूति के कारण, जो कुछ न्याय है उसकी तरफ से मैं आँख नही मूँद सकता। यहूदियों के लिए 'राष्ट्रीय गृह' की पुकार मुझे कुछ बहुत आकर्षित नहीं करती। बाइबल के उल्लेख और फिलस्तीन लौटने के बाद यहूदियों को जिस तरह भटकना पड़ा है उसके कारण यह की जाती है। लेकिन दुनियाँ के अन्य लोगों की तरह, जिस देश में जनमें और परवरिश पायें उसीको वे अपना घर क्यों नहीं बना लेते ?

फिलस्तीन तो उसी तरह अरबों का है जिस तरह कि इंग्लैण्ड अंग्रेजों का या फ्राँस फ्राँसीसियों का है। अरबों पर यहूदियों को लादना अनुचित और अमानुषिक है। सच तो यह है कि फिलस्तीन में आज जो कुछ हो रहा है उसका किसी नैतिक नियम से समर्थन नहीं किया जा सकता। जहाँतक मैण्डेटों का सवाल है, वे तो पिछले महायुद्ध ही का परिणाम है। गर्वीले अरबों का बल इस प्रकार कम कर देना कि फिलस्तीन को आंशिक या पूरे रूप में यहूदियों का राष्ट्रीय गृह बनाया जा सके, मानवता के प्रति एक अपराध कहा जायगा।

अच्छा तो यही होगा कि यहूदी जहां कहीं पैदा होकर परवरिश पायें वहीं उनके साथ न्यायपूर्ण व्यवहार होने पर जोर दिया जाये; क्योंकि फ्रांस में पैदा होने वाले यहूदी भी ठीक उसी तरह फ्राँसीसी हैं, जैसे कि फ्राँस में पैदा होनेवाले ईसाई फ्रांसीसी हैं। अगर यहूदियों का फिलस्तीन के सिवा और कोई अपना घर न हो, तो क्या वे इस बात को पसन्द करेंगे कि

दुनिया के जिन अन्य भागों में वे बसे हुए हैं उनसे उन्हें जबरदस्ती हटा दिया जाय ? या वे दुहरा घर चाहते हैं, जहाँ कि वे अपनी इच्छानुसार रह सकें ? सच तो यह है कि राष्ट्रीय गृह की इस आवाज से यहूदियों के जर्मनी से निकाले जाने का किसी-न-किसी रूप में औचित्य ही सिद्ध हो जाता है।

लेकिन जर्मनी में यहूदियों को जिस तरह सताया जा रहा है वह इतिहास में बेजोड़ है। पहले के जालिम इतनी हदतक नहीं गये, जहाँतक कि हिटलर चला गया मालूम पड़ता है। फिर लुत्फ यह है कि वह मजहबी जोश के साथ यह सब पागलपन कर रहा है; क्योंकि वह निरंकुश और उग्र राष्ट्रीयता के एक नये राष्ट्र-धर्म का प्रतिपादन कर रहा है जिसके नाम पर कोई भी निर्दयता इहलोक और परलोक में स्तुत्य बन जाती है ! एक ऐसे युवक के अपराध का जोकि स्पष्टतया पागल और दुस्साहसी था. ऐसी भयानकता के साथ उसकी सारी जाति से बदला लिया जा रहा है जिस पर विश्वास करना भी मुश्किल है। सच तो यह है कि मानवता के नाम पर और उसके लिए न्यायपूर्वक अगर कभी भी कोई युद्ध किया जा सकता है तो एक जाति का अबाधरूप से सताया जाना रोकने के लिए जर्मनी के साथ युद्ध छेड़ना सर्वथा न्यायसंगत है। लेकिन मैं तो किसी भी युद्ध में विश्वास नहीं करता। इसलिए ऐसे युद्ध के फलाफल पर विचार करना मेरा काम नहीं है।

लेकिन यहूदियों के साथ जो कुछ किया जा रहा है. ऐसे

अपराध के लिए भी अगर जर्मनी के साथ युद्ध नहीं छेड़ा जा सकता, तो भी जर्मनी के साथ कोई सन्धि या मेलजोल तो निश्चय ही नहीं हो सकता। जो राष्ट्र न्याय और प्रजातंत्र की हिमायत का दावा करता है उसका भला उस राष्ट्र के साथ कैसे मेल हो सकता है जो इन दोनों का साफ़ दुश्मन है? या फिर इंग्लैण्ड इस तरह के सशस्त्र अधिनायकत्व की ओर, उसके पूरे अर्थों में, झुक रहा है?

जर्मनी संसार को दिखला रहा है कि हिंसा पर जब किसी धूर्तता या दया-मया की कमजोरी का कोई बाधक आवरण न हो तो वह कितनी कारगर हो सकती है। साथ ही, वह यह भी बतला रहा है कि अपने नंगे रूप में यह कितनी कुरूप, भयानक और विकराल मालूम पड़ती है।

क्या यहूदी इस संगठित और निर्लज्ज अत्याचार का प्रतिरोध कर सकते हैं? क्या कोई ऐसा रास्ता है जिससे वे अपने को असहाय, उपेक्षित और कमजोर महसूस किये बग़ैर अपने स्वाभिमान को कायम रख सकें? मैं कहता हूँ कि हाँ, है। ईश्वर में अटल विश्वास रखनेवाले किसी व्यक्ति को अपने को असहाय या लाचार समझने की आवश्यकता नहीं है। यहूदियों का ईश्वर यहोवा ईसाइयों, मुसलमानों या हिन्दुओं के ईश्वर से अधिक सगुण और वत्सल है, हालाँकि मूलतः वह भी उन सब के समान अद्वितीय और वर्णनातीत है। लेकिन यहूदी ईश्वर को सगुण व्यक्ति मानते हैं और उनका विश्वास है कि उनके सब

कामों की वह देख-भाल रखता है, तो उन्हें अपने को असहाय नहीं समझना चाहिए। मैं अगर यहूदी होता और जर्मनी म मेरा जन्म हुआ होता और वहीं मैं अपनी रोज़ी कमाता होता, तो मैं उसी तरह जर्मनी को अपना स्वदेश मानने का दावा करता जैसे कि कोई बड़े-से-बड़ा जर्मन कर सकता है और गोली से उड़ाये जाने या कालकोठरी में दफ़ना दिये जाने का ख़तरा मोल लेकर भी मैं वहाँसे निकलने से इन्कार कर देता और अपने साथ भेदभाव का बर्ताव होने देना स्वीकार करता, और ऐसा करने के लिए मैं इस बात का इन्तजार न करता कि दूसरे यहूदी भी सविनय अवज्ञा में मेरा साथ दें, बल्कि यह विश्वास रखता कि दूसरे मेरे उदाहरण का अनुसरण अपने-आप करेंगे। मैंने जो यह नुसख़ा बतलाया है इसे एक या सब यहूदी स्वीकार करलें, तो उसकी या उनकी अब से ज्यादा बदतर हालत नहीं होगी। बल्कि स्वेच्छापूर्वक कष्ट-सहन से उनमें एक ऐसा आन्तरिक बल और आनन्द पैदा होगा जो जर्मनी के बाहर दुनियाभर में सहानुभूति के चाहे जितने प्रस्ताव पास होने से भी पैदा नहीं हो सकता। यह आन्तरिक बल और आन्तरिक आनन्द तो जर्मनी के खिलाफ़ ब्रिटेन, फ्रांस और अमेरिका युद्ध-घोषणा करदें तब भी पैदा नहीं हो सकता, यह निश्चित है। बल्कि ऐसे युद्ध की घोषणा के जवाब में हिटलर की नापी-जोखी हुई हिंसा के फलस्वरूप सबसे पहले कहीं यहूदियों का क़त्लेआम न कर दिया जाय। लेकिन अगर यहूदियों का मस्तिष्क स्वेच्छा-

पूर्वक कष्ट-सहन के लिए तैयार हो सके तो ऐसा हत्याकाण्ड भी इस तरह के अभिनंदन और आनन्द का दिन बन सकता है कि यहोवा ने अपनी जाति को मोक्ष प्रदान कर दिया, फिर वह चाहे ज़ालिम के ही हाथों क्यों न हो। ईश्वर से डरनेवालों के लिए मौत का भय नहीं होता। यह तो ऐसी आनन्दपूर्ण निद्रा है, जिसके अन्त में उत्साहप्रद जागरण ही होता है।

यह कहने की तो शायद ही ज़रूरत हो कि मेरे नुसखे पर चलना चेकों की बनिस्बत यहूदियों के लिए कहीं आसान है। दक्षिण अफ्रीका के भारतीय सत्याग्रह-आन्दोलन का उदाहरण भी उनके सामने है, जो कि बिलकुल इसी तरह का था। वहां भारतीयों की लगभग वही स्थिति थी जो जर्मनी में आज यहूदियों की है। उस अत्याचार को कुछ मजहबी रंग भी दिया हुआ था। प्रेसिडेण्ट क्रूगर अक्सर यह कहा करते थे कि गोरे ईसाई ईश्वर की चुनी हुई श्रेष्ठ कृति हैं और भारतीय उनसे नीचे दर्जे के हैं जिनकी उत्पत्ति गोरों की सेवा के ही लिए हुई है। ट्रांसवाल के शासन-विधान में एक बुनियादी धारा यह थी कि गोरों और रंगीन जातियों में, जिनमें कि एशियाई भी शामिल हैं, कोई समानता नहीं होनी चाहिए। वहाँ भी भारतीयों को अलग बस्तियों में बसाया गया था। दूसरी असुविधाएँ भी क़रीब-क़रीब वैसी ही थीं जैसी कि जर्मनी में यहूदियों को हैं। भारतीयों ने, जिनकी तादाद मुट्ठीभर ही थी, बाहरी दुनिया या भारतीय सरकार के किसी सहारे के बिना उसके विरुद्ध सत्याग्रह किया। ब्रिटिश

अधिकारियों ने निस्संदेह सत्याग्रहियों को अपने निश्चय से हटाने की कोशिश की। संसार का लोकमत और भारत-सरकार तो आठ बरस की लड़ाई के बाद उनके सहायक हुए—और, तब भी लड़ाई की कोई धमकी न देकर खाली राजनैतिक दबाव ही डाला गया।

दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों की बनिस्बत जर्मनी के यहूदियों के लिए सत्याग्रह करने का वातावरण कहीं ज्यादा अनुकूल है क्योंकि जर्मनी में यहूदियों की एक ही समानजाति है, दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों की बनिस्बत वे कहीं अधिक योग्य हैं और उनके पीछे संसार का संगठित लोकमत है। मुझे इस बात का इतमीनान है कि उनमें से कोई साहस और दूरदर्शिता के साथ अहिंसात्मक आन्दोलन नेतृत्व करने के लिए उठ खड़ा हो तो उनकी वर्तमान निराशा जल्दी ही आशा में परिणत हो सकती है। और आज जो मनुष्यों का बुरी तरह शिकार हो रहा है वह ऐसे स्त्री-पुरुषों के शान्त किंतु दृढ़ मुकाबले का रूप धारण कर लेगा जो हारेंगे तो निरस्त्र, पर जिनके पीछे यहोवा की दी हुई कष्ट-सहन की शक्ति होगी। मानवता से ही मनुष्यों के राक्षसी अत्याचार के खिलाफ तब यह एक सच्चा धार्मिक प्रतिरोध होगा। जर्मनी के यहूदी जर्मनी पर इस रूप में स्थायी विजय प्राप्त करेंगे कि जर्मनी के अनार्यों को वे मानवीय प्रतिष्ठा की क़द्र करना सिखला देंगे। वे अपने साथी जर्मनों की सेवा करेंगे और यह सिद्ध कर देंगे कि असली जर्मन वे हैं, न कि वे जो चाहे अनजाने ही पर आज जर्मन नाम पर धब्बा लगा रहे हैं।

एक शब्द फ़िलस्तीन में रहनेवाले यहूदियों से भी। वे ग़लत रास्ते पर जा रहे हैं, इसमें मुझे कोई शक नहीं। बाइबल में जिस फ़िलस्तीन की कल्पना है वह कोई भौगोलिक प्रदेश नहीं है। वह तो उनके दिलों में बसा हुआ है। लेकिन अगर भौगोलिक फ़िलस्तीन को ही अपना राष्ट्रीय घर समझना आवश्यक हो, तो भी ब्रिटिश तोपों के संरक्षण में उसमें प्रवेश करना ठीक नहीं है। क्योंकि बम या संगीनों की मदद से कोई धार्मिक कार्य नहीं किया जा सकता। फ़िलस्तीन में अगर उन्हें बसना है तो केवल अरबों की सद्भावना पर ही वे वहाँ बस सकते हैं। अतः अरबों का हृदय-परिवर्तन करने की उन्हें कोशिश करनी चाहिए। अरबों के हृदय में भी वही ईश्वर निवास करता है, जो कि यहूदियों के हृदय में बस रहा है। अरबों के आगे वे सत्याग्रह कर सकते हैं। उनके खिलाफ़ कोई अँगुली भी उठाये बग़ैर, उनके द्वारा गोली से मार डाले जाने या मृतसमुद्र में फेंक दिये जाने को वे तैयार रहें। ऐसा हुआ तो वे देखेंगे कि संसार का लोकमत उनकी धार्मिक आकांक्षा के भी पक्ष में हो जायगा। ब्रिटिश संगीनों की मदद का आश्रय छोड़ दिया जाय, तो अरबों से तर्क-वितर्क करने के, दलीलों से उन्हें समझाने-बुझाने के, सैकड़ों तरीके हैं। इस समय तो वे ब्रिटिशों के साथ उस प्रजा को मिटाने में साझीदार हो रहे हैं जिसने उनके साथ कोई बुराई नहीं की है।

अरबों द्वारा की जानेवाली ज्यादतियों की मैं हिमायत नहीं करता। जिसको वे अपने देश की स्वतंत्रता में अनुचित हस्तक्षेप

समझते हैं उसके प्रतिरोध के लिए उन्होंने अहिंसा का रास्ता चुना होता तो क्या अच्छा होता! लेकिन सही और ग़लत के स्वीकृत अर्थों में, बहुत-सी विरोधी बातों के बावजूद, अरब-प्रतिरोध के विरुद्ध कुछ नहीं कहा जा सकता।

यहूदी अपने को ईश्वर की चुनी हुई जाति कहते हैं। उन्हें चाहिए कि दुनिया में अपनी स्थिति की रक्षा के लिए अहिंसा के रास्ते को पसन्द करके अपने विशेषण को सही साबित करें। हरेक देश, यहाँतक कि फ़िलस्तीन भी, उनका घर है, लेकिन आक्रमण द्वारा नहीं बल्कि प्रेमपूर्ण सेवा के द्वारा। एक यहूदी मित्र ने सेसिल रॉथ की लिखी किताब 'जगत् की सभ्यता में यहूदियों की देन' मेरे पास भेजी है। संसार के साहित्य, कला, संगीत, नाटक, विज्ञान, वैद्यक, कृषि इत्यादि को समृद्ध करने के लिए यहूदियों ने क्या-क्या किया है, यह सब इसमें बतलाया गया है। यहूदी चाहें तो पश्चिम के अस्पृश्य बनने से, दूसरों से संरक्षण और हिकारत पाने से इन्कार कर सकते हैं। पशुबल के आगे तेजी से ख़त्म और ईश्वर से परित्यक्त होते हुए मनुष्यों के बजाय ईश्वर की चुनी हुई कृतिवाले मनुष्य बनकर वे संसार का ध्यान अपनी ओर आकर्पित कर सकते हैं और सम्मान भी प्राप्त कर सकते हैं। यही नहीं, अपनी अनेक देनों में वे अहिंसात्मक कार्य की अपनी सबसे बड़ी देन भी शामिल कर सकते हैं।

'हरिजन-सेवक' : ३ दिसम्बर, १६३८

: ५ :

जर्मन आलोचकों को गांधीजी का जवाब

['हरिजन' में प्रकाशित गांधीजी के "यहूदियों का सवाल" शीर्षक लेख की हाल में जर्मनपत्र 'नाशोसगाबे' में जर्मनी के एक लेखक ने जो आलोचना की है, उसके जवाब में गांधीजी ने 'स्टेट्समैन' के संवाददाता को नीचे लिखा विशेष संदेश दिया है—सं०]

यहूदियों के प्रति जर्मनों के बर्ताव के बारे में मैंने जो लेख लिखा था उस पर जर्मनी ने जो रोष जाहिर किया है उसके लिए, यह बात नहीं कि, मैं तैयार नहीं था। यूरोप की राजनीति के बारे में अपनी अज्ञानता तो मैं खुद ही स्वीकार कर चुका हूँ। पर यहूदियों की बहुत-सी मुसीबतों को दूर करने के अर्थ उन्हें अपना उपाय सुझाने के लिए यूरोपियन राजनीति के सही ज्ञान की मुझे जरूरत भी नहीं थी। उनपर तो जुल्म हुए हैं, उनके बारे की मुख्य हकीकतें बिल्कुल निर्विवाद हैं। मेरे लेख पर पैदा हुआ रोष जब दब जायगा, और खामोशी छा जायगी, तब अत्यन्त क्रुद्ध जर्मन को भी यह मालूम हो जायगा कि मेरे लेख की तह में जर्मनी के प्रति मित्रता की ही भावना थी, द्वेष की हर्गिज नहीं।

क्या मैंने बार-बार यह नहीं कहा है कि विशुद्ध प्रेम—बन्धत्व

या समत्व की भावना ही असली अहिंसा है ? और यहूदी लोग असहायावस्था और आवश्यकतावश मजबूरी से अहिंसा को ग्रहण करने के बजाय अगर असली अहिंसा, याने गैरयहूदी जर्मन के प्रति जान-बूझकर बन्धुत्व की भावना को अपना लें, तो मुझे इस बात का पूरा विश्वास है कि जर्मनों का दिल पसीज जायगा। इसमें शक नहीं कि संसार की प्रगति में यहूदियों की बहुत बड़ी देन है, लेकिन उनका यह महान कार्य उनकी सबसे बड़ी देन होगी और युद्ध एक अतीत की चीज बन जायगा।

यह बात मेरी समझ में ही नहीं आती कि मैंने जो बिलकुल निर्दोष लेख लिखा था, उस पर कोई जर्मन क्यों नाराज हो ? निस्सन्देह, जर्मन आलोचक भी दूसरों की तरह यह कहकर मेरा मजाक उड़ा सकते थे कि यह तो एक स्वप्नदर्शी का प्रयत्न है, जिसका असफल होना निश्चित है। इसलिए मैं उनके इस रोप का स्वागत ही करता हूँ, हालाँकि मेरे लेख को देखते हुए उनका यह रोप बिलकुल नामुनासिब है।

क्या मेरे लेख का कोई असर हुआ है ? क्या लेखक को यह लगा है कि मैंने जो उपाय सुझाया है, वह ऊपर से जैसा हास्यास्पद दीखता है असल में वैसा हास्यास्पद नहीं बल्कि बिल्कुल व्यावहारिक है ? काश, कि बदले की भावना के बगैर कष्ट-सहन के सौन्दर्य को हम समझ लें। मैंने यह लेख लिखकर अपनी, अपने आन्दोलन की और जर्मन-भारतीय सम्बन्धों की कोई भलाई नहीं की है, इस कथन में धमकी भरी हुई है। यह कहना अनुचित भी न

हो, तो भी अप्रासंगिक तो जरूर है। और जिसे मैं अपने अन्त-र्तम में सौ फी सदी सलाह समझता हूँ उसे, अपने देश या अपने या जर्मन-भारतीय सम्बन्धों पर कोई आँच आने के भय से, देने में पशोपेश करूँ, तो मुझे अपने को कायर ही समझना चाहिए।

बर्लिन के लेखक ने निश्चय ही यह एक अजीब सिद्धान्त निकाला है कि जर्मनी के बाहर के लोगों को जर्मन कामों पर टीका-टिप्पणी नहीं करनी चाहिए, फिर ऐसा अत्यधिक मित्रता के भाव से ही क्यों न किया जाय। अपनी तरफ से तो मैं निश्चय ही उन दिलचस्प बातों का स्वागत करूँगा जो जर्मन या दूसरे बाहरी लोग हिन्दुस्तानियों के बारे में हमें बतलायेंगे। अंग्रेजों की ओर से कुछ कहने की मुझे कोई जरूरत नहीं है। लेकिन ब्रिटिश प्रजा को, अगर मैं थोड़ा भी जानता हूँ, तो वह भी ऐसी बाहरी आलोचना का स्वागत ही करेगी, जो अच्छी जानकारी के साथ की जाय और जो द्वेष से मुक्त हो। इस युग में, जब कि दूरी की कोई कठिनाई नहीं रही है, कोई भी राष्ट्र 'कूपमण्डूक' बनकर नहीं रह सकता। कभी-कभी तो दूसरों के दृष्टिकोण से अपने को देखना बड़ा लाभकारक होता है। इसलिए अगर कहीं जर्मन आलोचकों की नजर मेरे इस जवाब पर पड़े, तो मैं उम्मीद करता हूँ कि वे मेरे लेख के बारे में न केवल अपनी राय ही बदल देंगे, बल्कि साथ ही बाहरी आलोचना के महत्व को भी महसूस करेंगे।

'हरिजन-सेवक' : १० दिसम्बर १९३८

: ६ :

आलोचनाओं का जवाब

कुछ मित्रों ने मेरे पास अखबारों की दो कतरनें भेजी हैं, जिनमें यहूदियों से की गई मेरी अपील की आलोचना है। दोनों आलोचकों का कहना है कि यहूदियों के साथ जो अन्याय हो रहा है उसके प्रतिकार के लिए अहिंसा का उपाय सुझाकर मैंने कोई नई बात उनके सामने नहीं रक्खी, क्योंकि पिछले दो हज़ार बरसों से स्पष्टतया वे अहिंसा का ही तो पालन कर रहे हैं। जहाँतक इन आलोचकों का सम्बन्ध है, मैंने अपना आशय स्पष्ट नहीं किया। पर, जहाँतक मैं जानता हूँ, यहूदियोंने अहिंसा को अपना ध्येय, या मुक्ति की नीति भी बनाकर उसका पालन कभी नहीं किया। निस्सन्देह, उनके ऊपर यह कलंक लगा हुआ है कि उनके पूर्व-पुरुषों ने ईसामसीह को सूली दे दी थी। क्या यह नहीं समझा जाता कि वे 'जैसे के साथ तैसे' की नीति में विश्वास करते हैं? अपने ऊपर अत्याचार करनेवालों के प्रति क्या उनके दिलों में हिंसा का भाव नहीं है? क्या वे यह नहीं चाहते कि उनपर होनेवाले अत्याचार के लिए तथाकथित

लोकतंत्रात्मक राष्ट्र जर्मनी को दण्ड दें और उन्हें उसके अत्याचार से मुक्त करदें ? अगर वे ऐसा चाहते हैं, तो उनके दिलों में अहिंसा नहीं है। उनके अन्दर तथाकथित अहिंसा हो भी, तो वह कमज़ोर और असहायों की अहिंसा है।

मैंने जिस बात पर ज़ोर दिया है वह तो यह है कि दिल से भी हिंसा निकाल दी जाय और इस महान् त्याग से पैदा हुई शक्ति को काम में लाया जाय। एक आलोचक का कहना यह है कि अहिंसात्मक रूप में काम करने के लिए उसके पक्ष में लोकमत का होना ज़रूरी है। स्पष्टतया ऐसा लिखते हुए उनके ख़याल में निष्क्रिय प्रतिरोध ही है, जिसे कमज़ोरों का शस्त्र समझा जाता है। लेकिन मैंने कमज़ोरों के निष्क्रिय प्रतिरोध और बलवानों के अहिंसात्मक प्रतिरोध में फ़र्क रक्खा है। इसमें से पिछला भयंकर-से-भयंकर विरोध के बावजूद काम कर सकता है और करता है। लेकिन इसका अन्त अधिक-से-अधिक सार्वजनिक सहानुभूति के साथ होता है। यह हम जानते हैं कि अहिंसात्मक रूप में कष्ट सहन करने से संगदिल भी पसीज जाते हैं। मैं यह कहने का साहस करता हूँ कि यहूदी अगर उस आत्म-शक्ति की मदद पा सकें, जो केवल अहिंसा से प्राप्त होती है, तो हेर हिटलर उनके ऐसे साहस के सामने, कि जैसा उन्होंने किसीके साथ पेश आने में बड़े पैमाने पर कभी नहीं देखा, सिर झुका देंगे और वह इस बात को तसलीम करेंगे कि वह उनके सर्वोत्तम तूफ़ानी सैनिकों की वीरता से भी बढ़कर है।

लेकिन ऐसा साहस वे ही दिखा सकते हैं जिनका सत्य और अहिंसा अर्थात् प्रेम के देवता में जीता-जागता विश्वास हो।

निस्सन्देह, आलोचक यह दलील दे सकते हैं कि मैंने जिस अहिंसा का चित्रण किया है वह सर्वसाधारण मनुष्यों के लिए सम्भव नहीं है, बल्कि सिर्फ बहुत थोड़े-से, बहुत ऊँचे, पहुँचे हुए मनुष्यों के लिए ही सम्भव है। लेकिन मैंने इस विचार के ख़िलाफ़ हमेशा यह कहा है कि उपयुक्त शिक्षण और नेतत्व मिलने पर सर्वसाधारण भी अहिंसा का पालन कर सकते हैं।

फिर भी मैं यह देखता हूँ कि मेरे कहने का यह ग़लत अर्थ लगाया जा रहा है कि मैंने पीड़ित यहूदियों को अहिंसात्मक प्रतिरोध की सलाह दी है। इसलिए लोकतंत्रात्मक राष्ट्रों को मैं यहूदियों की ओर से हस्तक्षेप न करने की सलाह दूँगा। मुझे इस आशंका का जवाब देने की कोई ज़रूरत नहीं है, क्योंकि मेरे कुछ कहने के कारण बड़े-बड़े राष्ट्र कोई कार्रवाई करने से रुकें, निश्चय ही ऐसा कोई ख़तरा नहीं है। यहूदियों को अमानुषक अत्याचारों से मुक्त करने के लिए जो कुछ वे कर सकते हैं वह तो वे करेंगे ही, क्योंकि ऐसा करने के लिए वे विवश हैं। मेरी अपील का ज़ोर तो इसी बात में है कि शक्तिशाली राष्ट्र प्रभावकारी रूप में यहूदियों की मदद करने में अपने को असहाय समझते हैं। इसलिए मैंने यह उपाय पेश किया है जो, अगर ठीक ढंग से ग्रहण किया जाय तो, मेरी समझ में अचूक है।

मगर इस पर सबसे ज्यादा उचित आक्षेप तो यह है कि जब

मैं यह जानता हूँ कि हिन्दुस्तान में ही, जहाँ कि मैं खुद काम कर रहा हूँ और जहाँ अपने को सेनापति मानता हूँ, इसे ज्यों-का-त्यों स्वीकार नहीं किया गया है, तो फिर यहूदियों से इसे स्वीकार कराने की आशा कैसे की जा सकती है ?

मेरा जवाब यह है कि वे लोग धन्य हैं जो किसी बात की आशा नहीं करते। कम-से-कम इस मामले में मैं उन्हींकी श्रेणी में हूँ, क्योंकि यह नुस्खा पा जाने और इसके असर के बारे में निश्चय हो जाने पर मुझे ऐसा लगा कि प्रभावशाली रूप में उस पर अमल हो सकने की भी सूरत देखते हुए मैं इस तरफ़ ध्यान न खींचूँ, तो वह मेरी ग़लती होगी।

अभीतक यूरोप की राजनीति की चर्चा करने से मैं बचता ही रहा हूँ। मेरी सामान्य स्थिति अब भी वही है। अबीसीनिया के मामले में लगभग दबी हुई आवाज़ में मैंने यह उपाय पेश किया था। चेकों और यहूदियों का मामला मुझे अबीसीनियनों से भी अधिक स्पष्ट मालूम पड़ा। इसलिए मैं इस बारे में लिखे बिना न रह सका। डा० मॉटने उस दिन मुझसे शायद यह ठीक ही कहा था कि चेकों और यहूदियों के बारेमें मैंने जैसे लेख लिखे वैसे मुझे ज्यादा-से-ज्यादा लिखते जाना चाहिए, क्योंकि और कुछ नहीं तो इनसे हिन्दुस्तान की लड़ाई में तो मुझे मदद मिलेगी ही। और अहिंसा का सन्देश सुनने के लिए इस समय पश्चिमी राष्ट्र जितने तैयार हैं उतने इससे पहले कभी न थे।

'हरिजन-सेवक' : १७ दिसम्बर, १९३८

: ७ :

क्या अहिंसा बेकार गयी ?

अपने लेख पर हुई इस आलोचना का कि यहूदी तो पिछले २,००० वर्ष से अहिंसक ही रहे हैं, मैंने जो जवाब दिया था, उस पर एक सम्पादकीय लेख में 'स्टेट्समैन' ने लिखा है :—

"पास्टर नीमोलर और लूथेरन चर्च पर हुए अत्याचारों की बात सारी दुनिया को मालूम है; अनेक पास्टरों और साधारण ईसाइयों ने पोप की अदालतों, हिंसा और धमकियों के कष्टों को बहादुरी के साथ बर्दाश्त किया और बदले या प्रतिहिंसा का ख़याल किये बिना वे सत्य पर डटे रहे। लेकिन जर्मनी में कौन-सा हृदय-परिवर्तन नज़र आता है ? बाइबल के रास्ते चलने-वाले संघों ('बाइबल सरचर्स लीगों') के जिन सदस्यों ने नाज़ी सैनिकवाद को ईसा के शान्ति-संदेश का विरोधी मानकर ग्रहण नहीं किया, वे आज जेलख़ानों और नज़रबन्द-कैम्पों में पड़े सड़ रहे हैं और पिछले पाँच सालों से उनकी यही दुर्दशा हो रही है। कितने जर्मन ऐसे हैं, जो उनके बारे में कुछ जानते हैं, या जानते भी हैं तो उनके लिए कुछ करते हैं ?

अहिंसा चाहे कमज़ोरों का शस्त्र हो या बलवानों का, किन्हीं अत्यन्त विशेष परिस्थितियों के अलावा वह सामाजिक के बजाय व्यक्तिगत प्रयोग की ही चीज़ मालूम पड़ती है। मनुष्य अपनी खुद की मुक्ति के लिए प्रयत्न करता रहे; राजनीतिज्ञों का सम्बन्ध तो कारणों, सिद्धान्तों और अल्पसंख्यकों से है। गांधीजी का कहना है कि 'हेर हिटलर को उस साहस के सामने झुकना पड़ेगा जो उसके अपने तूफानी सैनिकों द्वारा प्रदर्शित साहस से निश्चितरूपेण श्रेष्ठ है।' अगर ऐसा होता, तो हम सोचते कि हेर वॉन ओसीट्ज़के जैसे मनुष्य की उन्होंने ज़रूर तारीफ की होगी। मगर नाजियों के लिए साहस इसी हालत में गुण मालूम पड़ता है कि जब उनके अपने ही समर्थक उससे काम लें; अन्यत्र वह 'मार्क्सवादी-यहूदियों की धृष्ठतापूर्ण उत्तेजना, हो जाता है। गांधीजी ने इस विषय में कारगर रूप में कुछ करने में बड़े-बड़े राष्ट्रों के असमर्थ होने के कारण अपना नुसख़ा पेश किया है—यह ऐसी असमर्थता है जिसके लिए हम सबको अफ़सोस है और हम सब चाहते हैं कि यह न रहे। यहूदियों को उनकी सहानुभूति से चाहे बड़ा आश्वासन मिले, लेकिन उनकी वृद्धि में इससे ज्यादा मदद मिलने की सम्भावना नहीं है। ईसामसीह का उदाहरण अहिंसा का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है और उनको जिस बुरी तरह मारा गया उससे हमेशा के लिए यह सिद्ध हो गया है कि सांसारिक और भौतिक रूप में यह बड़ी बुरी तरह असफल हो सकती है।"

मैं तो यह नहीं समझता कि पास्टर नीमोलर और दूसरे

व्यक्तियों का कष्ट-सहन बेकार साबित हुआ है। उन्होंने अपने स्वाभिमान को क़ायम रखा है और यह साबित कर दिया है कि उनकी श्रद्धा किसी भी कष्ट-सहन से विचलित नहीं हो सकती। हेर हिटलर के दिल को पिघलाने के लिए वे काफी साबित नहीं हो सके, इससे केवल यही ज़ाहिर होता है कि हेर हिटलर का दिल पत्थर से भी अधिक कठोर चीज़ का बना हुआ है। मगर, सख्त-से-सख्त दिल भी अहिंसा की गर्मी से पिघल जायगा और इस हिसाब से अहिंसा की ताक़त की तो कोई सीमा ही नहीं।

हरेक कार्य बहुत-सी ताक़तों का परिणाम होता है, चाहे वे एक-दूसरे के विरुद्ध असर करनेवाली ही क्यों न हों। ताक़त कभी नष्ट नहीं होती। यही हम मैकेनिक्स की किताबों में पढ़ते हैं। मनुष्य के कामों में भी यह उसी तरह से लागू है। असल में बात यह है कि एक मामले में हमें आम तौर पर यह मालूम होता है कि वहाँ कौन-कौन-सी ताकतें काम कर रही हैं और ऐसी हालत में हम हिसाब लगाकर उसका नतीजा भी पहले ही से बता सकते हैं। जहाँतक मनुष्य के कामों का ताल्लुक है, वे ऐसी मुख्तलिफ़ ताकतों के परिणाम होते हैं, कि जिनमें से बहुत-सी ताकतों का हमें इल्म तक नहीं होता।

लेकिन हमें अपने अज्ञान को इन ताकतों की क्षमता में अविश्वास करने का कारण नहीं बनाना चाहिये। होना तो यह चाहिये कि अज्ञान के कारण हमारा इसमें और भी ज्यादा विश्वास हो जाये। चूंकि अहिंसा दुनिया की सबसे बड़ी ताकत है और

काम भी यह बहुत छुपे ढंग से करती है, इसलिए इसमें बहुत भारी श्रद्धा रखने की जरूरत है। जिस तरह हम ईश्वर में श्रद्धा रखना अपना धर्म समझते हैं, उसी तरह अहिंसा में श्रद्धा रखना भी धर्म समझना चाहिये।

हेर हिटलर केवल एक आदमी ही तो है और उनकी जिंदगी एक औसतन आदमी की नाचीज़ जिंदगी से बड़ी नहीं है। अगर जनता ने उनका साथ देना छोड़ दिया, तो उनकी ताक़त एक नष्ट ताकत होगी। मानव-समाज के कष्ट-सहन का उनकी तरफ़ से कोई जवाब न मिलने पर मैं निराश नहीं हुआ हूँ। मगर, मैं यह नहीं मान सकता कि जर्मनों के पास दिल नहीं है, या संसार की दूसरी जातियों की अपेक्षा वे कम सहृदय हैं। वे एक-न-एक दिन अपने नेता के खिलाफ़ विद्रोह कर देंगे, अगर समय के अन्दर उसकी आँखें न खुलीं और जब वे ऐसा करेंगे तब हम देखेंगे कि पास्टर नीमोलर और उसके साथियों की मुसीबतों और कष्ट-सहन ने जागृति पैदा करने में कितना काम किया है।

सशस्त्र संघर्ष से जर्मन हथियार नष्ट किये जा सकते हैं, पर जर्मनी के दिल को नहीं बदला जा सकता, जैसा कि पिछले महायुद्ध में हुई हार नहीं कर सकी। उसने एक हिटलर पैदा किया, जो विजयी राष्ट्रों से बदला लेने पर तुला हुआ है। और यह बदला किस तरह का है? इसका जवाब वही होना चाहिये जो स्टीफेन्सन ने अपने उन साथियों को दिया था, जो गहरी खाई को पाटने से हताश हो गये थे और जिससे पहले रेलवे का निकलना

मुमकिन हो गया था। उसने अपने साथियों से, जिनमें विश्वास की कमी थी, कहा—"विश्वास बढ़ाओ और गढ़े को भरे चले जाओ। वह अथाह नहीं है, इसलिए वह जरूर भर जायगा।" इसी तरह मैं भी इस बात से मायूस नहीं हुआ हूँ कि हेर हिट-लर या जर्मनी का दिल अभीतक नहीं पिघला है। इसके विरुद्ध मैं यही कहूँगा कि मुसीबतों पर मुसीबतें सहते चले जाओ, जब-तक कि अन्धे को भी यह नजर आने लगे कि दिल पिघल गया है। जिस तरह पास्टर नीमोलर की मुसीबतें बर्दाश्त करने के कारण शान बढ़ गई है, उसी तरह अगर एक यहूदी भी बहादुरी के साथ डटकर खड़ा हो जाय और हिटलर के हुक्म के आगे सर झुकाने से इन्कार कर दे, तो उसकी शान भी बढ़ जायगी और अपने भाई यहूदियों के लिए मुक्ति का रास्ता साफ कर देगा।

मेरा यह विश्वास है कि अहिंसा सिर्फ व्यक्तिगत गुण नहीं है, बल्कि एक सामाजिक गुण भी है जिसे दूसरे गुणों की तरह विकसित करना चाहिए। इसमें कोई शक नहीं कि समाज अपने आपस के कारोबार में अहिंसा का प्रयोग करने से ही व्यव-स्थित होता है। मैं जो कहना चाहता हूँ, वह यह है कि इसे एक बड़े राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर काम में लाया जाये।

मैं 'स्टेट्समैन' द्वारा जाहिर की गई इस राय से सहमत नहीं हूँ कि हजरत ईसा की मिसाल ने हमेशा के लिए यह साबित कर दिया कि अहिंसा सांसारिक बातों में नाकामयाब साबित होती है। हालांकि मैं जाति-पाँति के दृष्टिकोण से अपने आपको ईसाई

नहीं कह सकता, मगर ईसा ने अपनी कुर्बानी से जो उदाहरण क़ायम किया है, उससे मेरी अहिंसा में अखंड श्रद्धा और भी बढ़ गई है और अहिंसा के इसी सिद्धांत के अनुसार ही मेरे तमाम धार्मिक और सांसारिक काम होते हैं। मुझे यह भी मालूम है कि सैकड़ों ईसाई ऐसे हैं, जिनका ऐसा ही विश्वास है। अगर ईसा ने हमें अपने तमाम जीवन को विश्व-प्रेम के सनातन सिद्धान्त के अनुसार बनाने का सन्देश नहीं दिया, तो उनका जीवन और बलिदान बेकार है।

'हरिजन-सेवक' : १४ जनवरी, १९३९

: ८ :

क्या करें

एक प्रिंसिपल ने, जो अपना नाम ज़ाहिर नहीं करना चाहते, नीचे लिखा महत्त्वपूर्ण पत्र भेजा है :—

" निम्नलिखित आवश्यक प्रश्नों को हल करने के लिए क्षुब्ध मन दूसरों की तर्क-संगत सम्मति चाहता है—शान्ति-संघ ("पीस प्लेज यूनियन", जिसे किसी भी परिस्थिति में हिंसा का आश्रय लेने से इन्कार करके युद्ध का विरोध करने के लिए स्वर्गीय डिक शेफर्ड ने क़ायम किया था) की प्रतिज्ञा का पालन करना क्या हमारे संसार की मौजूदा हालत में ठीक और व्यावहारिक तरीक़ा है ?

'हाँ' के पक्ष में नीचे लिखी दलीलें हैं :—

(१) संसार के महान् आध्यात्मिक शिक्षकों ने अपने आचरण द्वारा हमें यह शिक्षा दी है कि किसी बुराई का अन्त केवल अच्छे उपायों से ही हो सकता है, बुरे उपायों से हरगिज़ नहीं, और किसी भी तरह की हिंसा (ख़ासकर युद्ध की, चाहे वह एकमात्र तथाकथित आत्मरक्षण के लिए ही क्यों न हो) निस्सन्देह बुरा उपाय ही है, फिर उसका उद्देश्य चाहे कुछ भी हो। इसलिए हिंसा का प्रयोग तो

सदा ही ग़लत है।

(२) वर्त्तमान हिंसा और मुसीबत के वास्तविक कारण युद्ध से कभी दूर नहीं हो सकते। 'युद्ध का अन्त करने के लिए' होने वाले पिछले युद्ध ने यह बात भलीभाँति सिद्ध करदी है और यही हमेशा सत्य रहेगी। इसलिए, हिंसा का प्रयोग अव्यावहारिक है।

(३) जो लोग यह महसूस करते हैं कि (वे चाहे छोटी-छोटी बातों के लिए न लड़ें, फिर भी) स्वतंत्रता और प्रजातंत्र की रक्षा के लिए तो उन्हें लड़ना ही चाहिए, वे भ्रम में हैं। मौजूदा परिस्थितियों में युद्ध का अंत चाहे विजय में ही क्यों न हो, फिर भी उसमे हमारी रही-सही स्वतंत्रताओं का उससे भी अधिक निश्चित रूप में अन्त होजाता है, जितना कि किसी आक्रमणकारी की जीत से होता। क्योंकि आजकल सफलता के साथ कोई युद्ध तबतक नहीं लड़ा जा सकता, जबतक कि सारी जनता को फ़ौजी न बना डाला जाय। उस फ़ौजी समाज में, जो कि दूसरे युद्ध के फलस्वरूप ज़रूर पैदा होगा, चाहे जीत उसमें किसी की क्यों न रहे, बंधक बनकर रहने की अपेक्षा जान-बूझकर अहिंसात्मक रूप में अत्याचार का प्रतिरोध करते हुए मरजाना कहीं बेहतर है।

'नहीं' के पक्ष में नीचे लिखी दलीलें हैं :—

(१) अहिंसात्मक प्रतिरोध उन लोगों के मुकाबले में ही कारगर हो सकता है, जिनपर कि नैतिक और दया-माया के विचारों का असर पड़ सकता है। फ़ासिज़्म पर ऐसी बातों का न केवल कोई असर ही नहीं पड़ता, बल्कि फ़ासिस्ट लोग खुलेआम

उसे कमज़ोरी का निशान बतला कर उसकी खिल्ली भी उड़ाते हैं। सब तरह के प्रतिरोध को ख़त्म करने में किसी पसोपेश की, या उसके लिए चाहे जितनी पाशविकता से काम लेने की वह परवा नहीं करता। इसलिए फ़ासिज्म के आगे अहिंसात्मक प्रतिरोध ठहर नहीं सकेगा। अतएव अहिंसात्मक प्रतिरोध वर्त्तमान परिस्थितियों में बुरी तरह अव्यावहरिक है।

(२) लोकतंत्रीय स्वतंत्रता की रक्षा के लिए होनेवाले हिंसात्मक प्रतिरोध में (याने युद्ध या युद्ध की आम लाज़िमी भर्ती के समय) सहयोग देने से इन्कार करना एक तरह से उन्हीं लोगों की मदद करना है, जो स्वतंत्रता को नष्ट कर रहे हैं। फ़ासिस्ट आक्रमण को निस्सन्देह इस बात से बड़ा उत्तेजन मिला है कि प्रजातन्त्र में जनता के ऐसे आदमी भी रहे हैं। जो अपनी रक्षा के लिए लड़ना नहीं चाहते और जो युद्ध होने पर भी अपनी सरकारों का विरोध करेंगे और इस प्रकार युद्ध शुरू होने या किसी तरह की लाज़िमी सैनिक भर्ती होने पर अपनी सरकारों की निन्दा करेंगे (और इस प्रकार रुकावट चाहेंगे)। ऐसी हालत में, रक्षा के हिंसात्मक उपायों पर जान-बूझकर आपत्ति करनेवाला न केवल शान्ति-वृद्धि में अप्रभावकारी रहता है, बल्कि वस्तुतः जो लोग उसे भंग कर रहे हैं उनकी मदद करता है।

(३) युद्ध स्वतंत्रता को भले ही नष्ट कर दे, लेकिन अगर प्रजातन्त्र बरकरार रहे तो कम-से-कम उसका कुछ अंश फिर से प्राप्त करने की कुछ सम्भावना तो रहती है, जबकि फासिस्टों को

अगर संसार का शासन करने दिया जाये तो उसकी बिलकुल कोई गुंजाइश ही नहीं है। इसलिए युद्ध पर अन्तःकरण से आपत्ति करनेवाले लोग लोकसत्तात्मक शक्तियों को कमजोर करते हुए विरोधियों की मदद करके अपने ही उद्देश्य को नष्ट कर रहे हैं।

लाजिमी सैनिक भर्तीवाले किसी भी देश में, यहाँतक कि खतरे की संभावनावाले ग्रेट ब्रिटेन में भी, नौजवानों के लिए इस प्रश्न का हल होना बहुत जरूरी है। लेकिन दक्षिण अफ्रीका. मिस्र या आस्ट्रेलिया जैसे देशों में, जिन्हें शायद चढ़ाई की सम्भावना का मुकाबला करना पड़े; और हिन्दुस्तान में, जिसमें 'पूर्ण स्वाधीनता' के सयय शायद जापान या मुस्लिम देशों के गुट्ट की चढ़ाई की सम्भावना रहे, यह अभी असल में उतना महत्वपूर्ण नहीं है।

ऐसी सम्भावनाओं (वल्कि कहना चाहिए कि हकीकतों) के सामने क्या हरेक तीव्र विवेक-बुद्धि रखनेवाले को (फिर वह चाहे जवान हो या बूढ़ा) क्या इस बात का निश्चय न होना चाहिए कि उसके करने के लिए कौन-सा तरीका सही और व्यावहारिक है? यह एक ऐसी समस्या है जिसका किसी-न-किसी रूप में (अगर रोज नहीं तो किसी-न-किसी दिन) हममें से हरेक को खुद सामना करना पड़ेगा। क्या आपके वाचक इन बातों को स्पष्ट करने में सहायक हो सकते हैं? जिन्हें इस बात का निश्चय न हो कि समय आने पर उन्हें इसका क्या जवाब देना चाहिए, वे इसपर विचार करके इसबारे में निश्चय कर सकते

हैं। हाँ, जिन्हें अपने जवाब का निश्चय हो इन्हें मेहरबानी करके दूसरों को भी वैसा ही निश्चितमति बनने में मदद करनी चाहिए।

शान्ति की प्रतिज्ञा लेनेवालों के प्रतिरोध के पक्ष में जो दलीलें दी गई हैं उनके बारे में तो कुछ भी कहने की जरूरत नहीं है। हाँ, प्रतिरोध के विरुद्ध जो दलीलें दी गई हैं उनकी सावधानी के साथ छान-बीन करने की जरूरत है। इनमें से पहली दलील अगर सही हो तो वह युद्ध-विरोधी आंदोलन की ठेठ जड़ पर ही कुठाराघात करती है। इसका आधार इस कल्पना पर है कि फासिस्टों और नाजियों का हृदय पलटना संभव है। उन्हीं जातियों में वे पैदा हुए हैं कि जिनमें तथाकथित प्रजातन्त्रवादियों, या कहना चाहिए खुद युद्धविरोधियों, का जन्म हुआ है। अपने कुटुम्बियों में वे वैसी ही मृदुता, वैसे ही प्रेम, समझदारी व उदारता से पेश आते हैं जैसे युद्ध-विरोधी इस दायरे के बाहर भी शायद पेश आते हों।

अन्तर सिर्फ परिमाण का है। फासिस्ट और नाजी तथाकथित प्रजातन्त्रों के दुर्गुणों के कारण ही न पैदा हुए हों तो निश्चय ही वे उनके संशोधित संस्करण हैं। किर्बी पेज ने पिछले युद्ध से हुए संहार पर लिखी हुई अपनी पुस्तिका में बताया है कि दोनों ही पक्षवाले झूठ और अतिशयोक्ति के अपराधी थे। वरसाई की संधि विजयी राष्ट्रों द्वारा जर्मनी से बदला लेने के लिए की गई संधि थी। तथाकथित प्रजातन्त्रों ने अब से पहले दूसरों की जमीनों को जबरदस्ती अपने कब्जे में किया है और निर्दय

दमन को अपनाया है। ऐसी हालत में अपने पूर्वजों ने तथाकथित पिछड़ी हुई जातियों का अपने भौतिक लाभ के लिए शोषण करने में जिस अवैज्ञानिक हिंसा की वृद्धि की थी, मेसर्स हिटलर एण्ड कम्पनी ने उसे वैज्ञानिक रूप दे दिया तो उसमें आश्चर्य की बात क्या है ? इसलिए अगर यह मान लिया जाये, जैसा कि माना जाता है, कि ये तथाकथित प्रजातंत्र अहिंसा का एक हद तक पालन करने से पिघल जाते हैं तो फासिस्टों और नाजियों के पाषाणहृदयों को पिघलाने के लिए कितनी अहिंसा की जरूरत होगी, यह त्रैराशिक से मालूम किया जा सकता है। इसलिए पहली दलील तो निकम्मी है, और बसमें कुछ तथ्य माना भी जाये तब भी उसे ध्यान से बाहर निकाल देना होगा।

अन्य दो दलीलें व्यावहारिक हैं ! शान्तिवादियों को ऐसी कोई बात तो न करनी चाहिए जिससे उनकी सरकारों के कमजोर पड़ने की सम्भावना हो। लेकिन इस भय से उन्हें यह दिखा देने के एकमात्र कारगर अवसर को नहीं गँवा देना चाहिए कि सभी तरह के युद्धों की व्यर्थता में उनका अटूट विश्वास है। अगर उनकी सरकारें पागलपन के साथ युद्ध-विरोधियों को बनाने लगें, तो उन्हें अपनी करनी के फलस्वरूप होनेवाली अशान्ति के परिणामों को सहना ही होगा। प्रजातन्त्रों को चाहिए कि वे व्यक्तिगत रूप से अहिंसा का पालन करने की स्वतन्त्रता का आदर करें। ऐसा करने पर ही संसार के लिए आशा-किरणों का उदय होगा।

'हरिजन-सेवक' : १५ अप्रेल, १९३९

: ९ :

अद्वितीय शक्ति

मेरी प्रत्येक प्रवृत्ति के मूल में अहिंसा रहती है, और इसीसे जिन तीन सार्वजनिक प्रवृत्तियों में मैं आजकल अपना सरबस उँड़ेलता दिखाई देता हूँ, उनके मूल में तो अहिंसा होनी ही चाहिए। ये तीन प्रवृत्तियाँ अस्पृश्यता-निवारण, खादी और गाँवों का पुनरुद्धार हैं। हिन्दू-मुसल्मान-एकता चौथी वस्तु है। इसके साथ मैं अपने बचपन से ही ओत-प्रोत रहा हूँ। पर अभी मैं इस विषय में ऐसा कोई कार्य नहीं कर सकता, जो प्रत्यक्ष नजर आ सके। इसलिए इस दृष्टि से मैंने इस विषय में अपनी हार कबूल कर ली है। पर इसपर से कोई यह कल्पना न करले, कि मैं इस सम्बन्ध में हाथ धो बैठा हूँ। मेरे जीते जी नहीं तो मेरी मृत्यु के बाद हिंदू और मुसलमान इस बात के साक्षी होंगे कि मैंने हिन्दू-मुस्लिम-एकता साधने का मंत्र-जप अंत तक नहीं छोड़ा था। इसलिए आज, जब कि इटली ने अबीसीनिया के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया है, अहिंसा के विषय में थोड़ा विचार कर लेना अप्रासंगिक तो नहीं, किंतु आवश्यक ही है ऐसा मैं देखता हूँ।

अहिंसा को जो धर्म के रूप में मानते हैं उनकी दृष्टि से उसे सर्वव्यापक होना चाहिए। अहिंसा को धर्म माननेवाले अपनी एक प्रवृत्ति में अहिंसक रहें और दूसरी के विषय में हिंसक, ऐसा कैसे हो सकता है ? यह तो केवल व्यवहार-नीति मानी जायगी। इसलिए इटली जो युद्ध कर रहा है उसके सम्बन्ध में अहिंसाधर्मी उदासीन नहीं रह सकता। यह होते हुए भी इस विषय में अपनी राय बतलाने और अपने देश को मार्ग दिखाने के लिए आग्रहपूर्ण सूचनाओं के प्रति मुझे इन्कार करना पड़ा है। बहुधा सत्य और अहिंसा के लिए मौनरूपी आत्म-निग्रह धारण करना ही पड़ता है। यदि भारत ने बतौर राष्ट्र के सामाजिक अहिंसा को धर्मरूप में स्वीकार किया होता, तो मैंने अवश्य ही कोई-न-कोई सक्रिय मार्ग बता दिया होता। यह मैं जानता हूँ कि करोड़ों के हृदय पर मुझे कितना अधिकार प्राप्त हो चुका है पर उसकी बड़ी-बड़ी मर्यादाओं को भी मैं ठीक-ठीक समझ सकता हूँ। सर्वव्यापक अहिंसा के मार्ग पर भारत की पचरंगी प्रजा को मार्ग दिखाने की शक्ति ईश्वर ने मुझे प्रदान नही की है। अनादि काल से भारत को अहिंसा-धर्म का उपदेश तो अवश्य मिलता चला आ रहा है, किंतु समस्त भारतवर्ष में सक्रिय अहिंसा पूर्णरूप से किसी काल में अमल में लाई गई थी ऐसा मैंने भारत के इतिहास में नहीं देखा। यह होते हुए भी अनेक कारणों से मेरी ऐसी अचल श्रद्धा है सही कि भारत किसी भी दिन सारे जगत् को अहिंसा का पाठ पढ़ायेगा। ऐसा होने में भले ही कई युग गुजर जायें। पर मेरी

बुद्धि तो यही बतलाती है कि दूसरा कोई भी राष्ट्र इस कार्य का अगुआ नहीं बन सकता।

अब हम जरा यह देखें कि इस अद्वितीय शक्ति के अंग में क्या समाया हुआ है। कुछ ही दिन पहले इस चालू युद्ध के सम्बन्ध में अनायास ही कुछ मित्रों ने मुझसे नीचे लिखे ये तीन प्रश्न पूछे थे :

१—अबीसीनिया, जिसे शस्त्र दुर्लभ हैं, यदि अहिंसक हो जाये तो वह शस्त्र-सुलभ इटली के मुकाबिले में क्या कर सकता है?

२—यूरोप के पिछले महायुद्ध के परिणाम-स्वरूप स्थापित राष्ट्र-संघ का इङ्गलैंड सबसे प्रबल सदस्य है। इङ्गलैंड यदि आपके अर्थ के अनुसार अहिंसक हो जाये तो वह क्या कर सकता है?

३—भारतवर्ष आपके अर्थ के अनुसार यदि अहिंसा को एक-दम ग्रहण कर ले तो वह क्या कर सकता है?

इन प्रश्नों का उत्तर देने के पहले अहिंसा से उत्पन्न होनेवाले इन पाँच उपसिद्धान्तों का आ जाना आवश्यक मालूम होता है:—

(१) मनुष्यों के लिए यथासंभव आत्म-शुद्धि अहिंसा का एक आवश्यक अङ्ग है।

(२) मनुष्य-मनुष्य के बीच मुकाबिला करें तो ऐसा देखने में आयेगा कि अहिंसक मनुष्य की हिंसा करने की जितनी शक्ति होगी उतनी ही मात्रा में उसकी अहिंसा का माप हो जायेगा।

यहाँ कोई हिंसा की शक्ति के बदले हिंसा की इच्छा समझने

की भूल न करे। अहिंसक में हिंसा की इच्छा तो कभी भी नहीं हो सकती।

(३) अहिंसा हमेशा हिंसा की अपेक्षा बढ़ी-चढ़ी शक्ति रहेगी, अर्थात् एक मनुष्य में उसके हिंसक होते हुए जितनी शक्ति होगी उससे अधिक शक्ति उसके अहिंसक होने से होगी।

(४) अहिंसा में हार के लिए स्थान ही नहीं है। हिंसा के अन्त में तो हार ही है।

(५) अहिंसा के सम्बन्ध में यदि जीत शब्द का प्रयोग किया जा सकता है, तो यह कहा जा सकता है कि अहिंसा के अन्त में हमेशा ही जीत होगी। वास्तविक रीति से देखें, तो जहाँ हार नहीं वहाँ जीत भी नहीं।

अब इन उपसिद्धांतों की दृष्टि से ऊपर के तीन प्रश्नों पर विचार करें।

१—अबीसीनिया अहिंसक हो जाय तो उसके पास जो थोड़े बहुत हथियार हैं, उन्हें वह फेंक देगा। उसे उनकी जरूरत नहीं होनी चाहिए। यह प्रत्यक्ष है कि अहिंसक अबीसीनिया किसी राष्ट्र के शस्त्र-बल की अपेक्षा न करेगा। यह राष्ट्र आत्म-शुद्ध होकर अपने विरुद्ध किसी को शिकायत करने का कोई मौका न देगा, क्योंकि वह तो तब सभी की कल्याण-कामना करेगा। और अहिंसक अबीसीनिया जैसे अपने हथियार फेंककर इटली के खिलाफ नहीं लड़ेगा, उसी तरह इच्छापूर्वक या जबरन उसे सहयोग नहीं देगा, उसके आधीन नहीं होगा। अतः इटली हबशी

प्रजा पर अधिकार प्राप्त नहीं करेगा, किन्तु केवल उनकी भूमि पर कब्जा करेगा। हम यह जानते हैं कि इटली का हेतु केवल जमीन पर कब्जा करने का नहीं है। इटली का हेतु तो इस उपजाऊ देश के हब्शियों को अपने बस में करने का है। उसका यह हेतु यदि सिद्ध न हो सका, तो फिर वह किसके विरुद्ध लड़ेगा ?

२—समस्त अंग्रेज जनता हृदय से अहिंसा को स्वीकार कर ले, तो वह साम्राज्य-विस्तार का लोभ छोड़ दे, अरबों रुपये के गोला-बारूद इत्यादि का त्याग करदे। इस कल्पनातीत त्याग में जो नैतिक बल अंग्रेजों में देखने में आयेगा उसका असर इटली के हृदय पर हुए बिना न रहेगा। अहिंसक इंग्लैण्ड के जिन पाँच उपसिद्धांतों को मैंने बतलाया है उनका संसार को चकाचौंध में डाल देनेवाला एक सजीव प्रदर्शन हो जायगा। यह परिवर्तन एक ऐसा महान् चमत्कार होगा जो किसी भी युग में न अबतक हुआ है, और न आगे कभी होगा। ऐसा परिवर्तन कल्पनातीत होते हुए भी अगर अहिंसा एक सच्ची शक्ति है तो वह होकर ही रहेगा। मैं तो इसी श्रद्धा पर जी रहा हूँ।

३—तीसरे प्रश्न का उत्तर इस तरह दिया जा सकता है। यह तो मैं ऊपर कह ही चुका हूँ कि भारत राष्ट्र के रूप में पूर्ण रीति से अहिंसक नहीं है। और उसके पास हिंसा करने की भी शक्ति नहीं। बहादुर आदमियों को हथियारों की पर्वा कम-से-कम हुआ करती है। जरूरी हथियार किसी तरह से भी वे प्राप्त कर लेते हैं। इसलिए हिन्दुस्तान में हिंसा करने की शक्ति नहीं

है इसका अर्थ यह हुआ कि हिन्दुस्तान ने कभी एक राष्ट्र के रूप में इस शक्ति को विकसित नहीं किया। इसलिए उसकी अहिंसा दुर्बल की अहिंसा है, इसीसे वह उसे नहीं मोह सकती, और उसका प्रभाव नहीं पड़ सकता। जहाँ तहाँ हम नित्य भारत की दुर्बलता का ही दर्शन किया करते हैं और संसार के सामने भारत एक ऐसी प्रजा के रूप में दिखाई देता है कि जिसका दिन-दिन शोषण होता जा रहा है। यहाँ भारत की राजनीतिक पराधीनता ही बताने का हेतु नहीं है, बल्कि अहिंसक और नैतिक दृष्टि से हम आज उतरे हुए मालूम होते हैं। आपस में बात करें तो भी हम अपने को नीचे ही देखते हैं। ऐसा मालूम होता है कि किसी भी बलवान् के आगे साहस के साथ खड़े होने की शक्ति हम खो बैठे हैं। हम लोगों में ऐसी शक्ति नहीं है, यह बात हमारे दिल में घर कर गई है। जहाँ-तहाँ हम अपनी निर्बलता ही देखा करते हैं। यदि ऐसा न हो तो हम लोगों में हिन्दू-मुसल्मान के बीच झगड़ा ही क्यों हो ? आपस में तकरार ही क्यों हो ? राजसत्ता के विरुद्ध लड़ाई किसलिए हो ? यदि हममें सबल राष्ट्र की अहिंसा हो, तो अंग्रेज न हम लोगों के प्रति अविश्वास करें, न अपने प्राणों का हमारी तरफ से कोई भय रखें और न अपने को यहाँ विदेशी शासक के रूप में मानें। भले ही राजनीति की भाषा में इच्छा हो तो हम उनकी टीका करें। कितनी ही बातों में हमारी आलोचना में सचाई होती है। किन्तु यदि एक क्षण के लिए भी पैंतीस करोड़ मनुष्य अपने को एक सबल

मनुष्य के रूप में समझ सकें और अंग्रेजों को—या किसी को भी—हानि पहुँचाने की कल्पना करते हुए भी लज्जित हों, तो अंग्रेज सिपाहियों, व्यापारियों अथवा अफसरों का भय हम छुड़ा देंगे, और अंग्रेजों में हमारे प्रति आज जो अविश्वास है वह दूर हो जायगा। यदि हम सच्चे अहिंसक हो जायें तो अंग्रेज हमारे मित्र बन जायें। अर्थात्, हम करोड़ों की संख्या में होने से इस दुनिया में बड़ी-से-बड़ी शक्ति के रूप में पहिचाने जायें, और इसीलिए उनके हितचिन्तक के रूप में हम जो सलाह उन्हें दें उसे वे अवश्य ही मानें।

मेरी दलीलें पूरी हो गईं। पाठक देख सकेंगे कि ऊपर की दलीलें देकर मैंने उक्त पाँच उपसिद्धांतों का ही जैसे-तैसे समर्थन किया है। सच बात तो यह है कि जिसकी दलील से पूर्ति करनी पड़ती है वह न तो सिद्धांत है न उपसिद्धांत। सिद्धांत को तो स्वयंसिद्ध होना चाहिए। पर दुर्भाग्य से हम मोहजाल में अथवा जड़तारूपी शक्ति में ऐसे फँसे हुए हैं कि अक्सर सूर्यवत् स्पष्ट वस्तुओं को भी हम नहीं देख सकते। इसीसे किसी प्राचीन ऋषि ने कहा है कि, "सत्य के ऊपर जो सुनहला आवरण आ गया है, उसे हे प्रभो, तू दूर करदे।"

यहाँ, मुझे जब मैं विद्यार्थी था तब का एक स्मरण याद आ रहा है। जबतक 'भूमिति' समझनेलायक मेरी बुद्धि विकसित नहीं हुई थी, तबतक यह बात थी कि अध्यापक तो तख्ती पर आकृतियाँ बनाया करता और मेरा दिमाग इधर-उधर चक्कर लगाया करता

था। कई बार .यूक्लिड के १२ सिद्धांत पढ़े; पर मेरी समझ में पत्थर भी न आया। जब यकायक मेरी बुद्धि खुल गई, तब उसी क्षण भूमिति-शास्त्र मुझे एक सरल-से-सरल शास्त्र मालूम हुआ। इससे भी अधिक सरल अहिंसा-शास्त्र है, ऐसा मेरा विश्वास है। पर जबतक हमारे हृदय के पट नहीं खुल जाते, तबतक अहिंसा हमारे अंतर में कैसे प्रवेश कर सकती है? बुद्धि हृदय को भेदने में असमर्थ है। वह हमें थोड़ी ही दूर ले जा सकती है, और वहाँ व्याकुल बनाकर छोड़ देती है। अनेक सशय हमें भ्रमाते हैं। अहिंसा श्रद्धा का विषय है, अनुभव का विषय है। जहाँतक संसार उसपर श्रद्धा जमाने के लिए तैयार नहीं, वहाँतक तो वह चमत्कार की ही बाट जोहता रहेगा। उसे बड़े पैमाने पर जो प्रत्यक्ष दिखाई दे सके ऐसी अहिंसा की जीत देखनी है। इसलिए कुछ विद्वान बुद्धि का महान् प्रयोग करके हमें समझाते हैं कि बतौर सामाजिक शक्ति के अहिंसा को विकसित करना आकाश-पुष्प तोड़ने की तैयारी करने के समान है। वे हमें समझाते हैं कि अहिंसा तो केवल एक व्यक्तिगत वस्तु है। सचमुच अगर ऐसा ही है, तो क्या मनुष्यजाति और पशुजाति के बीच वास्तविक भेद कुछ है ही नहीं? एक के चार पैर हैं, दूसरे के दो; एक के सींग, दूसरे के नहीं!

'हरिजन-सेवक': १२ अक्तूबर, १९३५

: १० :

अहिंसा और अन्तर्राष्ट्रीय मामले

[मद्रास के पास ताम्बरम् में होनेवाले अन्तर्राष्ट्रीय-पादरी सम्मेलन में भाग लेनेवाले कई प्रसिद्ध व्यक्ति वहाँ आये। उनमें से कुछ सम्मेलन से पहले गांधीजी से बातचीत करने का लाभ उठाने के उद्देश्य से सेगाँव (सेवाग्राम) आये थे। उनमें अन्तर्राष्ट्रीय मिशनरी कौंसिल के मन्त्री रेवरेण्ड विलियम पैटन, अमेरिका के अग्रणी पादरी ओहदेदार रेवटेरड लेस्ली मॉस और लंदन की देश-विदेशी बाइबल सोसाइटी वाले डा० स्मिथ के नाम उल्लेखनीय हैं।

जिन्हें इस बात की खास तौर से फिक्र थी उसे इन्होंने गांधीजी के सामने इस प्रकार पेश किया :

"आज सारी दुनिया के ऊपर छाई हुई अन्तर्राष्ट्रीय घटाएँ मानव-जाति को द्वेष और रक्तपात की भयानक होली में होम देने को तैयार हैं, उसमें से मानव जाति को किस तरह बचाया जाये? सभ्यता की आड़ में पशु-बल से काम लेने में अपनी असमर्थता की इतनी प्रतीति थी इससे पहले कभी न हुई होगी।"

इस हालत में गांधीजी के अहिंसा-शस्त्र पर अग्रगण्य विचारकों का ध्यान स्वभावतः गया है और इस अहिंसा की विचारा- सरणी के पीछे जो श्रद्धा, प्रार्थना तथा आत्मशुद्धि की प्रेरणा है, जो धर्म भावना इस में सम्मिलित है, उससे संबन्ध रखनेवाले अनेक प्रश्न उन्होंने किये।—सं०]

प्रश्न—धार्मिक, सामाजिक अथवा राजनैतिक हरेक क्षेत्र में आप जो कुछ कर रहे हैं उसके पीछे आपका हेतु क्या है ?

गांधीजी—शुद्ध धार्मिक। यही सवाल एक राजनैतिक प्रतिनिधि-मंडल के साथ मेरे इंग्लैण्ड जाने पर स्वर्गीय भारत-मन्त्री माण्टेग्यू ने भी मुझसे पूछा था। उन्होंने कहा था, तुम्हारे जैसे समाज सुधारक इस मंडल के साथ यहाँ कैसे आये ? मैंने कहा कि मेरी सामाजिक प्रवृत्ति का यही विस्तार मात्र है। सारी मनुष्य-जाति के साथ आत्मीयता कायम किये बिना मेरी धर्म-भावना सन्तुष्ट नहीं हो सकती और यह तभी सम्भव है जब कि राजनैतिक मामलों में मैं भाग लूँ। क्योंकि आजकी दुनिया में मनुष्यों की प्रवृत्ति एक और अभिभाज्य है। उसमें सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और शुद्ध धार्मिक ऐसे जुदे-जुदे भाग नहीं किये जा सकते। मानव-हित की प्रवृत्ति से भिन्न धर्म मैं नहीं जानता। ऐसी धर्म-भावना से रहित दूसरी तमाम प्रवृत्तियाँ नैतिक-आधार-विहीन हैं और जीवन को खाली 'अर्थहीन धाँधलेबाजी तथा 'हल्ले-गुल्लेवाला' कर डालती हैं।

प्रश्न—हम देखते हैं कि सर्वसाधारण के ऊपर आपका अजीब

प्रभाव है। यह कार्य के प्रति आपकी निष्ठा का परिणाम है या सर्व-साधारण के प्रति आपके प्रेम का ?

गांधीजी—सर्वसाधारण के प्रति प्रेम का। सर्वसाधारण के प्रति अपने प्रेम की ही वजह से मैंने अपने जीवन में अस्पृश्यता-निवारण का सवाल उठाया है। मेरी माँ ने कहा, 'तू इस लड़के को मत छू, यह अस्पृश्य है।' मैंने कहा—क्यों नहीं छुऊँ ? और उसी दिन से मेरा विद्रोह शुरू हो गया।

प्रश्न—यूरोप के शान्तिवादियों की वृत्ति, जिसे कि हम यूरोपवाले अभी बहुत सफलतापूर्वक ग्रहण नहीं कर सके, आपको अपनी अहिंसावाद की दृष्टि से कैसी लगती है ?

गांधीजी—मेरी धारणा के अनुसार अहिंसा किसी भी रूप या किसी भी अर्थ में निष्क्रिय वृत्ति है ही नहीं। अहिंसा को जिस तरह मैं समझता हूँ, उसके अनुसार तो दुनिया की यह सबसे बड़ी सक्रिय शक्ति है, इसलिए भौतिकवाद हो या दूसरा कोई भी वाद, यदि अहिंसा उसे नष्ट न कर सकती हो, तो मैं यही कहूँगा कि वह अहिंसा ही नहीं है। अथवा दूसरे शब्दों में कहूँ कि अगर आप मेरे सामने कुछ ऐसी समस्याएँ लायें कि जिनका मैं हल न बता सकूँ, तो मैं तो यही कहूँगा कि मेरी अहिंसा अपूर्ण है। अहिंसा एक सार्वभौम नियम है। अपने आधी शताब्दी के अनुभव में मुझे एक भी ऐसा संयोग या स्थिति याद नहीं आती कि जिसमें मुझे यह कहना पड़ा हो कि मैं लाचार हूँ, मेरे पास अहिंसा के अनुसार कुछ उपाय

रहा नहीं है।

यहूदियों का सवाल लीजिए। इस प्रश्न पर मैंने अभी मैंने 'हरिजन' में लिखा है। मेरी दृष्टि से अगर वे अहिंसा का मार्ग स्वीकार करलें तो किसी भी यहूदी को विवशता अनुभव करने की जरूरत नहीं। एक मित्र ने मुझे पत्र लिखकर यह आपत्ति उठाई है कि मैंने अपने लेख में यह मान लिया है कि यहूदी हिंसक हैं। यह सही है कि यहूदियों ने अपने व्यक्तिगत बर्ताव में सक्रिय हिंसा नहीं की है। पर उन्होंने अपने जर्मन विरोधियों पर सारी दुनिया को उजाड़ने का प्रयत्न किया है। उन्होंने अमेरिका तथा इंग्लैंड को लड़ाई में कूद पड़ने के लिए सिफ़ारिश की है। अगर मैं अपने विरोधी पर प्रहार करता हूँ, तब तो मैं हिंसा करता ही हूँ। पर अगर मैं सच्चा अहिंसक हूँ, तो जब वह मेरे ऊपर प्रहार कर रहा हो तब भी मुझे उसपर प्रेम करना है, और उसका कल्याण चाहता है, उसके लिए ईश्वर से प्रार्थना करनी है। यहूदी सक्रिय अहिंसक नहीं बने हैं। नहीं तो वे अपने विरोधी अधिनायकों के दुष्कृत्यों को क्षमा करते हुए कहते : 'हम उनका प्रहार सहन करेंगे, पर जिस तरह वे अपने प्रहार सहन करना चाहते हैं, उस तरह हम कभी सहन नहीं करेंगे। अगर ऐसा करनेवाला एक यहूदी भी निकल आये, तो यह तमाम अत्याचारों को सहन करते हुए भी अपना स्वाभिमान अखंडित रख सकता है। और वह अपने पीछे एक ऐसा उदाहरण छोड़ जायगा कि जिससे दुनिया के तमाम यहूदियों का

उद्धार हो सकता है, और सारी मानव जाति के लिए भी वह एक बहुमूल्य विरासत दे जायगा।

आप पूछेंगे कि चीन के बारे में आप क्या कहते हैं ? चीन की तो दूसरे किसी देश पर नजर नहीं है। उसे दूसरों के देश पर कब्जा नहीं करना है। यह शायद सच है कि चीन इस प्रकार की आक्रमणनीति के लिए तैयार नहीं। आज जो उसका शान्तिवाद जैसा दिखाई देता है वह शायद निरा प्रमाद ही हो। चाहे जो हो तो भी चीन की वृत्ति सक्रिय अहिंसा की तो है ही नहीं। फिर जापान के आक्रमण से जो वह वीरता पूर्वक अपना बचाव कर रहा है वह भी इस चीज़ का प्रमाण है कि चीन की वृत्ति सोद्देश्य अहिंसक नहीं है। उस पर आक्रमण हुआ है और वह बचाव कर रहा है यह कोई अहिंसा की दृष्टि से जवाब नहीं है। इसलिए सक्रिय अहिंसा की परीक्षा का समय आने पर वह हीन ही ठहरा। यह मैं चीन की कोई टीका नहीं कर रहा हूँ। मैं चीन की विजय चाहता हूँ। पहले से चली आई परंपरा से देखा जाय तो उसका यह बर्ताव बिलकुल उचित ही है। पर जब हम अहिंसा की दृष्टि से देखने बैठेंगे, तब तो मैं यही कहूँगा कि चालीस करोड़ की प्रजा—जापान की जितनी ही सभ्य और संस्कारी प्रजा—जापान के आक्रमण का सामना इस प्रकार करने के लिए निकले, यह अशोभनीय बात है। चीनियों में यदि मेरी धारणा के अनुसार अहिंसा हो, तो जापानियों के पास जो आधुनिक से आधुनिक प्रकार की हिंसक शस्त्र-सामग्री है उसका उन्हें कुछ भी

उपयोग न रहे। चीनी तब जापानियों से यह कहें—'अपनी सारी शस्त्र-सामग्री ले आओ। अपनी आधी जन-संख्या हम उसके भेंट करते हैं। पर बाकी के जो बीस करोड़ बचेंगे वे किसी भी बात में तुम्हारे सामने घुटने नहीं टेकेंगे।' अगर चीनी यह कर सकें, तो जापान को चीन का बन्दी बनकर रहना पड़े।

यह आपत्ति भी उठाई गई है कि यहूदियों के बारे में तो अहिंसा की हिमायत ठीक है। कारण कि उनके उदाहरण में तो अत्याचार सहनेवाले और अत्याचारी के बीच में व्यक्तिगत व्यवहार का सम्बन्ध है। लेकिन चीन में तो जापान दूर से गोला-बारी करनेवाली तोपों और हवाई जहाजों से हमला कर रहा है। अन्तरिक्ष में से विध्वंसक विमानारुढ़ शायद ही यह देख और जान पाते हैं कि खुद उन्हें किसने मारा और उन्होंने किनको मारा। ऐसे हवाई जहाजी युद्ध का सामना अहिंसा किस तरह कर सकती है? जवाब इसका यह है कि हवाई जहाजों से जो संहारक बम बरसाये जाते हैं, उन्हें बरसानेवाले मनुष्य के ही तो हाथ हैं और उन हाथों को जो हुक्म देता है वह भी मानव-हृदय है। फिर इस सारी संहारक बम-वर्षा के पीछे मनुष्य का हिसाब भी है पर्याप्त परिमाण में ऐसे संहारक बम बरसाने से आवश्यक परिणाम होगा। मतलब यह है कि शत्रु आत्म-समर्पण कर देगा और हम उससे जो चाहते हैं वह करालेंगे। पर मान लीजिए कि एक सारी प्रजा ने ऐसा निश्चय कर लिया है कि हम किसी भी तरह अत्याचारी के आधीन नहीं होंगे

तथा उसकी पद्धति से उसका सामना भी नहीं करेंगे, तो इस स्थिति में अत्याचारी को उस प्रजा पर संहारक बम बरसाना पुसा नहीं सकता। अगर अत्याचारी के आगे अनाप-शनाप भोजन रख दिया जाय, तो एक समय ऐसा आयगा कि जब उसका पेट और ज्यादा भोजन ठूसने से इन्कार कर देगा। अगर दुनिया के सारे चूहे कान्फ्रेन्स करके यह निश्चय कर लें कि बिल्ली से डरेंगे नहीं· बल्कि सब के सब सामने जाकर बिल्ली के मुँह में चले जायँगे, तो सचमुच ही सचमुच ही मूषक जाति का उद्धार हो जाय। मैंने एक बिल्ली को चूहे के साथ खिलवाड़ करते हुए देखा था, चूहे को मार न डालकर उसे उसने जबड़े में पकड़ रक्खा था। बाद में छोड़ दिया और जब यह देखकर कि वह भागा जा रहा है उसे फिर छलांग मारकर पकड़ लिया। अन्त में उस चूहे ने निरे डर के मारे ही प्राण छोड़ दिये। अगर चूहे ने भागने का प्रयत्न न किया होता, तो बिल्ली को उससे कुछ मजा न मिलता।

प्रश्न—आप हिटलर और मुसोलिनी को जानते नहीं हैं। उनपर किसी भी तरह का नैतिक असर पड़ ही नहीं सकता। अन्तःकरण नाम की चीज ही उनके पास नहीं है। और दुनिया के लोकमत की उन्हें जरा भी परवाह नहीं है। आपकी सलाह के अनुसार चेक प्रजा अहिंसा से उसका सामना करने जाय, तो उसे इन अधिनायकों का सीधा शिकार ही बनना पड़े। मूलतः अधिनायकता की व्याख्या से ही नीति की कक्षा बाहर है। फिर नैतिक हृदय-परिवर्तन का नियम लागू ही कैसे हो सकता है?

गांधीजी—अपनी इस दलील में आप यह मान लेते हैं कि

हिटलर या मुसोलिनी जैसे आदमियों का उद्धार हो ही नहीं सकता। लेकिन अहिंसा में विश्वास रखनेवालों की आस्था ही इस आधार पर है कि मानव-स्वभाव मूलतः एक ही है और उस पर प्रेम के बर्ताव का जरूर ही प्रभाव पड़ता है। इतने काल से मनुष्य हिंसा का ही प्रयास करता आया है और उसका प्रति-घोष हमेशा उल्टा है। यह कह सकते हैं कि संगठित अहिंसात्मक मुकाबले का प्रयोग अभी मनुष्य ने कहीं भी योग्य पैमाने पर नहीं देखा। इसलिए यह लाजिमी है कि जब वह यह प्रयोग देखेगा, तब इस की श्रेष्ठता स्वीकार कर लेगा। फिर मैंने जिस अहिंसात्मक प्रयोग की तजवीज चेक प्रजा के सामने रखी थी, उसकी सफलता अधिनायकों के सद्भाव पर निर्भर नहीं करती, कारण कि सत्याग्रही तो केवल ईश्वर के बलपर ही लड़ता है, और पहाड़ जैसी दीख पड़नेवाली कठिनाइयों के बीच वह ईश्वर-श्रद्धा के बल पर टिका रहता है।

प्रश्न—लेकिन ये यूरोप के अधिनायक प्रत्यक्ष रीति से बल-प्रयोग तो करते नहीं। वे तो जो चाहते हैं उसपर सीधा ही कब्जा करलेते हैं। ऐसी स्थिति में अहिंसात्मक लड़ाई लड़ने वाले को क्या करना चाहिए?

गांधीजी—मान लीजिए ये लोग आकर चेक प्रजा की कानों, कारखानों, और दूसरी प्राकृतिक सम्पत्ति के साधनों पर कब्जा करलें, तो फिर इतने परिणाम आयेंगे :—(१) चेक प्रजा के सविनय अवज्ञा करने के आधार पर भार डाला जाय। अगर ऐसा हुआ, तो वह चेक राष्ट्र की महान् विजय और जर्मनी के

पतन का प्रारम्भ समझा जायेगा। (२) अपार पशुबल के सामने प्रजा हिम्मत हार जाये। ऐसा सभी युद्धों में होता है। पर अगर ऐसी भीरुता प्रजा में आजाये, तो यह अहिंसा के कारण नहीं बल्कि अहिंसा के अभाव से, अथवा पर्याप्त मात्रा में सक्रिय अहिंसा न होने के कारण, होगा। (३) तीसरे, यह हो कि जर्मनी जीते हुए देश में अपनी अतिरिक्त जन-संख्या को ले जाकर बसाये। इसे भी हिंसात्मक सामना करके रोक नहीं सकते। क्योंकि हमने यह मान लिया है कि ऐसा मुकाबला अशक्य है, इसलिए अहिंसात्मक मुकाबला ही सब प्रकार की परिस्थितियों में प्रतिकार का एक मात्र अचूक तरीक़ा है।

और मैं यह भी नहीं मानता कि हिटलर तथा मुसोलिनी दुनिया के लोकमत की सर्वथा उपेक्षा कर सकते हैं। आज बेशक वे वैसा करके सन्तोष मान सकते हैं, क्योंकि तथाकथित बड़े-बड़े राष्ट्रों में से कोई भी साफ़ हाथों नहीं आता और इन बड़े-बड़े राष्ट्रों ने उनके साथ पहले जो अन्याय किया था वह उन्हें खटक रहा है। थोड़े दिनों की बात है कि एक अंग्रेज मित्र ने मेरे सामने यह स्वीकार किया था कि "आज का नाज़ी जर्मनी इंग्लैण्ड के पाप का फल है और वर्साई की संधि ने ही हिटलर को पैदा किया है।"

प्रश्न—बहैसियत एक ईसाई के, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के काम में मैं किस तरह योग दे सकता हूँ? किस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय अंधाधुंधी को

नष्ट कर शान्ति-स्थापन के लिए अहिंसा प्रभावकारी साबित हो सकती है ? पराधीन राष्ट्रों को एक तरफ रखदें, तो भी बड़े-बड़े राष्ट्रों की अग्रसर प्रजाओं से किस तरह निःशस्त्रीकरण कराया जा सकता है ?

एक ईसाई के रूप में आप अपना योग अहिंसात्मक सामना करके दे सकते हैं; फिर भले ही ऐसा मुकाबला करते हुए आपको अपना सर्वस्व होम देना पड़े। जबतक बड़े-बड़े राष्ट्र अपना निःशस्त्रीकरण करने का साहसपूर्वक निर्णय नहीं करेंगे, तबतक शांति स्थापित होने की नहीं। मुझे ऐसा लगता है कि हाल के अनुभवों के बाद यह चीज बड़े-बड़े राष्ट्रों को स्पष्ट हो जानी चाहिए। मेरे हृदय में तो आधी सदी के निरन्तर अनुभव और प्रयोग के बाद पहले कभी ऐसा विश्वास नहीं हुआ, जैसाकि आज है, कि केवल अहिंसा में ही मानव-जाति का उद्धार निहित है। बाइबल की शिक्षा भी, जैसा कि मैं उसे समझता हूँ, मुख्यतः यही है।

'हरिजन-सेवक' : १४ जनवरी, १९३९

: ३ :

पिछला महायुद्ध और अहिंसा

: १ :

लड़ाई में भाग

विलायत पहुँचने पर खबर मिली कि गोखले तो पेरिस में रह गये हैं, पेरिस के साथ आवागमन का सम्बन्ध बन्द हो गया है, और यह नहीं कहा जा सकता कि वह कब आयेंगे। गोखले अपने स्वास्थ्य-सुधार के लिए फ्रांस गये थे; किन्तु बीच में ही युद्ध छिड़ जाने से वहीं अटक रहे। उनसे मिले बिना मुझे देश जाना नहीं था; और वह कब आवेंगे, यह कोई कह नहीं सकता था।

अब सवाल यह खड़ा हुआ कि इस दरमियान करें क्या? इस लड़ाई के सम्बन्ध में मेरा धर्म क्या है? जेल के मेरे साथी और सत्याग्रही सोराबजी अडाजणिया विलायत में बैरिस्टरी का अध्ययन कर रहे थे। सोराबजी को एक श्रेष्ठ सत्याग्रही के तौरपर इंग्लैण्ड में बैरिस्टरी की तालीम के लिए भेजा था कि जिससे दक्षिण आफ्रिका में आकर मेरा स्थान ले लें। उनका खर्च डाक्टर प्राणजीवनदास मेहता देते थे। उनके और उनके मार्फत डाक्टर जीवराज मेहता इत्यादि के साथ, जो विलायत में पढ़ रहे थे, इस

विषय पर सलाह-मशविरा किया। विलायत में उस समय जो हिन्दुस्तानी लोग रहते थे उनकी एक सभा बुलाई गई और उनके सामने मैंने अपने विचार उपस्थित किये। मेरा यह मत हुआ कि विलायत में रहनेवाले हिन्दुस्तानियों को इस लड़ाई में अपना हिस्सा देना चाहिए। अंग्रेज़-विद्यार्थी लड़ाई में सेवा करने का अपना निश्चय प्रकट कर चुके हैं। हम हिन्दुस्तानियों को भी इससे कम सहयोग न देना चाहिए। मेरी इस बात के विरोध में इस सभा में बहुतेरी दलीलें पेश की गईं। कहा गया कि हमारी और अंग्रेज़ों की परिस्थिति में हाथी घोड़े का अन्तर है—एक गुलाम दूसरा सरदार। ऐसी स्थिति में गुलाम अपने प्रभु की विपत्ति में उसे स्वेच्छापूर्वक कैसे मदद कर सकता है? फिर जो गुलाम अपनी गुलामी में से छूटना चाहता है, उसका धर्म क्या यह नहीं है कि प्रभु की विपत्ति से लाभ उठाकर अपना छुटकारा कर लेने की कोशिश करे? पर वह दलील मुझे उस समय कैसे पट सकती थी? यद्यपि मैं दोनों की स्थिति का महान् अन्तर समझ सका था, फिर भी मुझे हमारी स्थिति बिलकुल गुलाम की स्थिति नहीं मालूम होती थी। उस समय मैं यह समझे हुए था कि अंग्रेज़ी शासन-पद्धति की अपेक्षा कितने ही अंग्रेजी अधिकारियों का दोष अधिक था और उस दोष को हम प्रेम से दूर कर सकते हैं। मेरा यह खयाल था कि यदि अंग्रेजों के द्वारा और उनकी सहायता से हम अपनी स्थिति का सुधार चाहते हों तो हमें उनकी विपत्ति के समय सहायता पहुँचाकर

अपनी स्थिति सुधारनी चाहिए। ब्रिटिश शासन-पद्धति को मैं दोषमय तो मानता था, परन्तु आज की तरह वह उस समय असह्य नहीं मालूम होती थी। अतएव आज जिस प्रकार वर्तमान शासन-पद्धति पर से मेरा विश्वास उठ गया है और आज मैं अंग्रेजी राज्य की सहायता नहीं कर सकता, इसी तरह उस समय जिन लोगों का विश्वास इस पद्धति पर से ही नहीं, बल्कि अंग्रेजी अधिकारियों पर से भी उठ चुका था, वे मदद करने के लिए कैसे तैयार हो सकते थे ?

उन्होंने इस समय को प्रजा की माँगें जोर के साथ पेश करने और शासन में सुधार कराने की आवज उठाने के लिए बहुत अनुकूल पाया। मैंने इसे अंग्रेजों की आपत्ति का समय समझ कर माँगें पेश करना उचित न समझा और जबतक लड़ाई चल रही है तबतक हक़ माँगना मुल्तवी रखने के संयम में सभ्यता और दीर्घ-दृष्टि समझी। इसलिए मैं अपनी सलाह पर मज़बूत बना रहा और कहा कि जिन्हें स्वयं-सेवकों में नाम लिखाना हो वे लिखा दें। नाम अच्छी संख्या में आये। उनमें लगभग सब प्रान्तों और सब धर्मों के लोगों के नाम थे।

फिर लार्ड क्रू के नाम एक पत्र भेजा गया। उसमें हम लोगों ने अपनी यह इच्छा और तैयारी प्रकट की कि हम हिन्दुस्तानियों के लिए घायल सिपाहियों की सेवा-शुश्रूषा करने की तालीम की यदि आवश्यकता दिखाई दे तो उसके लिए तैयार हैं। कुछ सलाह-मशविरा करने के बाद लार्ड क्रू ने हम लोगों का प्रस्ताव

स्वीकार किया और इस बात के लिए हमारा अहसान माना कि हमने ऐसे मौके पर साम्राज्य की सहायता करने की तैयारी दिखाई।

जिन-जिन लोगों ने अपने नाम लिखाये थे उन्होंने प्रसिद्ध डाक्टर केन्टली की देख-रेख में घायलों की शुश्रूषा करने की प्राथमिक तालीम शुरू की। छः सप्ताह का छोटा-सा शिक्षा-क्रम रक्खा गया था और इतने समय में घायलों को प्राथमिक सहायता करने की सब विधियाँ सिखा दी जाती थीं। हम कोई ८० स्वयं-सेवक इस शिक्षा-क्रम में सम्मिलित हुए। छः सप्ताह के बाद परीक्षा ली गई तो उसमें सिर्फ एक ही शख्स फेल हुआ। जो लोग पास हो गये उनके लिए सरकार की ओर से क़वायद वग़ैरा सिखाने का प्रबन्ध हुआ। क़वायद सिखाने का भार कर्नल बैंकर को सौंपा गया और वह इस टुकड़ी के मुखिया बनाये गये।

इस समय विलायत का दृश्य देखने लायक़ था। युद्ध से लोग घबराते नहीं थे, बल्कि सब उसमें यथाशक्ति मदद करने के लिए जुट पड़े। जिनका शरीर हट्टा-कट्टा था ऐसे नवयुवक सैनिक शिक्षा ग्रहण करने लगे। परन्तु अशक्त, बूढ़े और स्त्री आदि भी खाली हाथ न बैठे रहे। उनके लिए काम तो था ही। वे युद्ध में घायल सैनिकों के लिए कपड़ा इत्यादि सीने-काटने का काम करने लगीं। वहाँ स्त्रियों का 'लाइसियन' नामक एक क्लब है। उसके सभ्यों ने सैनिक-विभाग के लिए आवश्यक कपड़े यथाशक्ति बनाने का जिम्मा ले लिया। सरोजनीदेवी भी इसकी सदस्या थीं।

उन्होंने इसमें खूब दिलचस्पी ली थी। उनके साथ मेरा वह प्रथम ही परिचय था। उन्होंने कपड़े ब्योंत कर मेरे सामने एक ढेर रख दिया और कहा कि जितने सिला सको, उतने सिलाकर मुझे दे देना! मैंने उनकी इच्छा का स्वागत करते हुए घायलों की शुश्रूषा की उस तालीम के दिनों में जितने कपड़े तैयार हो सके उतने करके उनको दे दिये।

आत्मकथा : भाग ४, अध्याय ३८

: २ :

धर्म की समस्या

युद्ध में काम करने के लिए हम कुछ लोगों ने सभा करके जो अपने नाम सरकार को भेजे, इसकी खबर दक्षिण अफ्रीका पहुँचते ही वहाँ से दो तार मेरे नाम आये। उनमें से एक पोलक का था। उन्होंने पूछा था—'आपका यह कार्य अहिंसा-सिद्धान्त के खिलाफ तो नहीं है?'

मैं ऐसे तार की आशंका कर ही रहा था; क्योंकि 'हिन्द-स्वराज्य' में मैंने इस विषय की चर्चा की थी और दक्षिण अफ्रीका में तो उसकी चर्चा निरन्तर हुआ ही करती थी। हम सब इस बात को मानते थे कि युद्ध अनीति-मय है। ऐसी हालत में और जब कि मैं अपने पर हमला करनेवाले पर भी मुकदमा चलाने के लिए तैयार नहीं हुआ था तो फिर जहाँ दो राज्यों में युद्ध चल रहा हो और जिसके भले या बुरे होने का मुझे पता न हो उसमें मैं सहायता कैसे कर सकता हूँ, यह प्रश्न था। हालाँकि मित्र लोग यह जानते थे कि मैंने बोअर-संग्राम में योग दिया था तो भी उन्होंने यह मान लिया था कि उसके बाद मेरे विचारों में परि-

वर्तन हो गया होगा।

और बात दरअसल यह थी कि जिस विचार-सरणि के अनुसार में बोअर-युद्ध में सम्मिलित हुआ था उसी का अनुसरण इस समय भी किया गया था। मैं ठीक-ठीक देख रहा था कि युद्ध में शरीक होना अहिंसा के सिद्धान्त के अनुकूल नहीं है; परन्तु बात यह है कि कर्तव्य का भान मनुष्य को हमेशा दिन की तरह स्पष्ट नहीं दिखाई देता। सत्य के पुजारी को बहुत बार इस तरह गोते खाने पड़ते हैं।

अहिंसा एक व्यापक वस्तु है। हम लोग ऐसे पामर प्राणी हैं, जो हिंसा की होली में फँसे हुए हैं। 'जीवो जीवस्य जीवनम्' यह बात असत्य नहीं है। मनुष्य एक क्षण भी बाह्य हिंसा किये बिना नहीं जी सकता। खाते-पीते, बैठते-उठते, तमाम क्रियाओं में इच्छा से या अनिच्छा से कुछ-न-कुछ हिंसा वह करता ही रहता है। यदि इस हिंसा से छूट जाने का वह महान् प्रयास करता हो, उसकी भावना में केवल अनुकम्पा हो, वह सूक्ष्म जन्तु का भी नाश न चाहता हो, और उसे बचाने का यथाशक्ति प्रयास करता हो, तो समझना चाहिए कि वह अहिंसा का पुजारी है। उसकी प्रवृत्ति में निरन्तर संयम की वृद्धि होती रहेगी, उसकी करुणा निरन्तर बढ़ती रहेगी, परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि कोई भी देहधारी बाह्य हिंसा से सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता।

फिर अहिंसा के पेट में ही अद्वैत भावना का भी समावेश है। और यदि प्राणिमात्र में भेद-भाव हो तो एक के काम का

असर दूसरे पर होता है और इस कारण भी मनुष्य हिंसा से सोलहों आना अछूता नहीं रह सकता। जो मनुष्य समाज में रहता है वह, अनिच्छा से ही क्यों न हो, मनुष्य-समाज की हिंसा का हिस्सेदार बनता है। ऐसी दशा में जब दो राष्ट्रों में युद्ध हो तो अहिंसा के अनुयायी व्यक्ति का यह धर्म है कि वह उस युद्ध को रुकवावे। परन्तु जो इस धर्म का पालन न कर सके, जिसे विरोध करने का सामर्थ्य न हो, जिसे विरोध करने का अधिकार न प्राप्त हुआ हो, वह युद्ध-कार्य में शामिल हो सकता है और ऐसा करते हुए भी उसमें से अपने को, अपने देश को और संसार को निकालने की हार्दिक कोशिश करता है।

मैं चाहता था कि अंग्रेजी राज्य के द्वारा अपनी, अर्थात् अपने राष्ट्र की, स्थिति का सुधार करूँ। पर मैं तो इंग्लैंड में बैठा हुआ इंग्लैंड की नौ-सेना से सुरक्षित था। उस बल का उपयोग इस तरह करके मैं उसकी हिंसकता में सीधे-सीधे भागी हो रहा था। इसलिए यदि मुझे इस राज्य के साथ किसी तरह संबंध रखना हो, इस साम्राज्य के झण्डे के नीचे रहना हो, तो या तो मुझे युद्ध का खुल्लमखुल्ला विरोध करके जबतक उस राज्य की युद्ध-नीति नहीं बदल जाय तबतक सत्याग्रह-शास्त्र के अनुसार उसका बहिष्कार करना चाहिए, अथवा भंग करने योग्य कानूनों का सविनय भंग करके जेल का रास्ता लेना चाहिए, या उसके युद्ध-कार्य में शरीक होकर उसका मुकाबला करने का सामर्थ्य और अधिकार प्राप्त करना चाहिए। विरोध की शक्ति मेरे अन्दर

थी नहीं, इसलिए मैंने सोचा कि युद्ध में शरीक होने का एक ही रास्ता मेरे लिए खुला था ।

जो मनुष्य बन्दूक धारण करता है और जो उसकी सहायता करता है, दोनों में अहिंसा की दृष्टि से कोई भेद नहीं दिखाई पड़ता। जो आदमी डाकुओं की टोली में उसकी आवश्यक सेवा करने, उसका भार उठाने, जब वह डाका डालता हो तब उसकी चौकीदारी करने, जब वह घायल हो तो उसकी सेवा करने का काम करता है, वह उस डकैती के लिए उतना ही जिम्मेदार है जितना कि खुद वह डाकू। इस दृष्टि से जो मनुष्य युद्ध में घायलों की सेवा करता है, वह युद्ध के दोषों से मुक्त नहीं रह सकता।

पोलक का तार आने के पहले ही मेरे मन में ये सब विचार उठ चुके थे। उनका तार आते ही मैंने कुछ मित्रों से इसकी चर्चा की। मैंने अपना धर्म समझ कर युद्ध में योग दिया था और आज भी मैं विचार करता हूँ तो इस विचार-सरणि में मुझे दोष नहीं दिखाई पड़ता। ब्रिटिश-साम्राज्य के संम्बन्ध में उस समय जो विचार मेरे थे उनके अनुसार ही मैं युद्ध में शरीक हुआ था और इसलिए मुझे उसका कुछ भी पश्चात्ताप नहीं है।

मैं जानता हूँ कि अपने इन विचारों का औचित्य मैं अपने समस्त मित्रों के सामने उस समय भी सिद्ध नहीं कर सका था। यह प्रश्न सूक्ष्म है। इसमें मत-भेद के लिए गुंजाइश है। इसीलिए अहिंसा-धर्म को माननेवालों और सूक्ष्म-रीति से उसका

पालन करनेवालों के सामने जितनी हो सकती है खोलकर मैंने अपनी राय पेश की है। सत्य का आग्रही व्यक्ति रूढ़ि का अनुसरण करके ही हमेशा कार्य नहीं करता, न वह अपने विचारों पर हठपूर्वक आरूढ़ रहता है। वह हमेशा उसमें दोष होने की संभावना मानता है और उस दोष का ज्ञान हो जाने पर हर तरह की जोखिम उठाकर भी उसको मंजूर करता है और उसका प्रायश्चित्त भी करता है ।

आत्मकथा : खंड ४; अध्याय ३६

: ३ :

युद्ध के विरोध में युद्ध

एक सज्जन लिखते हैं :

"यह पत्र लिखने का कारण यह है कि सत्य और अहिंसा के पुजारी होते हुए युद्ध के प्रति आपकी वृत्तिविषयक 'आत्मकथा' का अध्याय ('धर्म की समस्या'; आत्मकथा : खण्ड ४; अध्याय ३९) पढ़कर बहुतों के मन में खलबली मच गयी है। मुझसे अधिक शक्तिवाले लोग आपको उस बारे में लिखेंगे। मुझे जो थोड़ी बातें सूझती हैं वे आपको बताना चाहता हूँ।

सत्य और अहिंसा का सच्चा पुजारी स्वयं बुरी वस्तुओं का विरोध न कर सकता हो तो भी उनका संग तो कभी नहीं कर सकता क्या यह उसके आचरण का मूलभूत सिद्धान्त नहीं है? कुछ लोगों के कहे अनुसार युद्ध एक आवश्यक बुराई है। परन्तु उसके समाप्त होने के बाद जगत को उसकी दुष्टता का अधिक भान होगा, ऐसी आशा रखकर उसमें मदद देना चाहिए—यह बहाना ठीक नहीं है, न हो सकता है। बल्कि होता तो यह है कि मनुष्य की निष्ठुरता और भी जोरदार हो जाती है, और जीवन के प्रति पवित्रता की लगन मिट जाती है।

जैसे आप दलील करते हैं और कहते हैं वैसे ही हिंसावादी भी कह सकते हैं कि हम यूरोपियनों के हमले और अत्याचार को रोक नहीं सकते। समुदाय-बल से भी नहीं रोक सकते। परन्तु अगर हम उनके ही शस्त्रों से उनका सामना करके उन शस्त्रों की खराबी उन्हें बतावें तो वे अपनी नीति की बेवकूफी को समझेंगे और हम स्वतंत्र हो जायँगे तथा अत्याचार से जगत को बचा लेंगे। जहाँतक हमारे राज्यकर्ता हिंसा-बल का उपयोग करते हैं और हमें अत्याचार से तिरस्कार है वहाँतक यह शस्त्र हमसे ही न चिपक जाये इतना ध्यान रखकर उनका उपयोग करते रहने में क्या हानि है?

यूरोपीय महायुद्ध ने प्रजाओं का और ख़ास करके विजेताओं का कुछ भी भला किया है? युद्ध चाहे जैसा 'धर्म्य' हो फिर भी किसी युद्ध में से कोई भी अच्छाई पैदा हो सकती है? उसमें सक्रिय या निष्क्रिय रूप से भाग लेने की कैसी भी अनुमति देने के बदले उसका विरोध ही करना और इस प्रकार सिद्धान्त पालन करते हुए जो दुःख आवे सो उठा लेना क्या हमारा फर्ज नहीं है? सक्रिय रूप से लड़ाई में भाग लेनेवाले की बनिस्बत उससे दूर रहनेवाले शान्तिवादी अधिक सिद्धान्त-सेवा करते हैं, क्या ऐसा आप नहीं मानते? सन् १९१४ में जब आपकी अंग्रेजों की न्यायबुद्धि में श्रद्धा थी तब की आपकी मनोवृत्ति आप जैसी कहते हैं वैसी होगी। पर क्या आज वह आपको उचित लगती है? मान लें कि कल लड़ाई शुरू हो तो क्या आप इस आशा में कि लड़ाई बंद हो जाने पर वस्तुस्थिति अधिकसुध-

रेगी, इंग्लैंड की मदद करने को तैयार हो जायेंगे ?

यह मैं जानता हूँ कि मुझे जो कहना है वह सब उत्तम रीति से नहीं कह सका हूँ, परन्तु मेरे कहने का मर्म आप समझ सकेंगे। इसका उत्तर मिलेगा तो मुझे खुशी होगी।"

मुझे भी ऐसा लगता है कि पत्र-लेखक अपनी चीज उत्तम रीति से पेश नहीं कर सके हैं। पाठकों में एक ऐसा वर्ग होता है जो गम्भीर लेखों को भी ध्यानपूर्वक नहीं पढ़ता, केवल इसीलिए कि वे साप्ताहिक पत्र में आते हैं। पत्र लिखनेवाले भाई भी ऐसे ही वर्ग के मालूम होते हैं। उनके जैसे पाठक अगर फिर से उस अध्याय को पढ़ेंगे तो उसमें से इतनी बातें समझ सकेंगे—

(१) मैंने सेवा का यह काम इसलिए नहीं लिया कि मैं युद्ध में विश्वास रखता था। कम से कम अप्रत्यक्ष रूप तक से उसमें भाग लेने से बचे रहना असम्भव था।

(२) युद्ध में भाग लेने का विरोध करने का मुझे अधिकार नहीं था।

(३) जिस प्रकार मैं यह नहीं मानता कि पाप में हिस्सा लेने से पाप दूर हो सकता है। उसी प्रकार यह भी मैं नहीं मानता कि युद्ध में भाग लेने से युद्ध-निषेध हो सकता है। परन्तु जिसे हम पापयुक्त या अनिष्ट समझते हैं ऐसी अनेक वस्तुओं में हमें सचमुच लाचारी से हिस्सा लेना पड़ता है, यह दूसरी बात है। इसे यहाँ समझने की जरूरत है।

(४) हिंसावादी समझते-बूझते चाह करके और पहले से ही

निश्चय करके अत्याचारी नीति में पड़ते हैं, इसलिए इसकी दलील अप्रस्तुत है।

(५) कहे जानेवाले विजेताओं को युद्ध से कोई फ़ायदा नहीं हुआ।

(६) जिन शान्तिवादियों ने अपने विरोध के कारण जैसी यातना भोगी उन्होंने शान्ति-स्थापना में अवश्य सहायता की।

(७) अगर कल कोई दूसरा युद्ध शुरू हो तो वर्तमान सरकार के बारे में आज के अपने विचारों के अनुसार मैं उसे किसी भी रूप में मदद नहीं कर सकता। उलटे अपनी शक्ति भर मैं दूसरों को मदद करने से रोकने का प्रयत्न करूँगा। और सम्भव हुआ तो सारे अहिंसामय साधनों का उपयोग करके उसकी हार हो ऐसा प्रयत्न करूँगा।

'नवजीवन' ८ मार्च, १६२८

: ४ :

युद्ध और अहिंसा

पिछले महायुद्ध में मैंने जो भाग लिया था और उसका 'आत्मकथा' में जिस प्रकार उल्लेख किया है वह अभी तक मित्रों और टीकाकारों को उलझन का विषय बना हुआ है। एक पत्र का जिक्र पहले कर आये हैं। यह दूसरा पत्र आया है—

"आपने 'आत्म-कथा' के चौथे भाग के ३८ वें अध्याय में पहले-पहल यूरोपीय महासमर में अपने शामिल होने का जिक्र किया है इसके औचित्य के विषय में मुझे शंका है। मेरा ख़याल है कि मैं शायद आपका मतलब ही ठीक-ठीक नहीं समझ सका हूँ। इसलिए प्रार्थना है कि आप कृपा कर मेरी शकाओं का समाधान कर दें।

"पहला प्रश्न है 'आपको दरअसल लडाई में शामिल होने के लिए किस बात ने प्रेरित किया?' आप कहते हैं—'इसलिए अगर मुझे उस राज्य के साथ आखिर सरोकार रखना हो, उस राज्य की छत्रछाया में रहना हो तो या तो मुझे खुले तौर पर युद्ध का विरोध करके जब तक उसकी युद्ध-नीति न बदले तबतक सत्याग्रह के

शास्त्र के अनुसार उसका बहिष्कार करना चाहिए या फिर भंग करना उचित हो तो वैसे कानूनों का सविनय भंग करके जेल का रास्ता ढूँढना चाहिए। अथवा मुझे उसकी युद्ध-प्रवृत्ति में भाग लेकर उसका विरोध करने की शक्ति और अधिकार प्राप्त करना चाहिए। ऐसी शक्ति मुझमें नहीं थी। इसलिए मैंने माना कि मेरे पास युद्ध में भाग लेने का ही रास्ता बचा है।" (भाग ४ : अध्याय ३६)

"आप युद्ध में शरीक होकर युद्ध की हिंसा का विरोध करने के लिए कौनसी योग्यता, कौनसी शक्ति प्राप्त करना चाहते थे ?

"मैं देखता हूँ कि लड़नेवाले दूसरे देशों के निवासियों की बनिस्बत आपकी स्थिति न्यारी थी। वे तो सेना में भर्ती किये जा सकते थे किन्तु आप नहीं और इसलिए निष्क्रिय प्रतिरोध का रास्ता आपके लिए स्वभावतः ही नहीं खुला हुआ था। और अधिकार का बल पीठ पर हुए बिना युद्ध का सार्वजनिक रूप से विरोध जताना तो इससे भी बुरा था। लेकिन उसके लिए जितनी आवश्यक थी उससे अणुमात्र भी ज्यादा, विवश होकर, साझेदारी क्यों अपने ऊपर ले ली ?

"यद्यपि ऊपर के उदाहरण से जान पड़ता है कि आप युद्ध का विरोध कर सकने की ताकत पैदा करने के लिए लड़ाई में शरीक हुए किन्तु दूसरी जगहों में आप खुलासा कहते हैं कि आपको आशा थी कि लड़ाई में शामिल होने से आपकी अपनी और आपके देश की स्थिति अच्छी होगी—और यह पढ़कर जान पड़ता है कि यह उन्नति केवल लड़ाई का विरोध भर करने के लिए ही नहीं थी।

"और इसी में से दूसरा प्रश्न यह भी उठता है कि कुछ भी पाने के लिए लड़ाई में योग देना ही क्यों उचित था ?

"मेरी समझ में नहीं आता कि गीता की शिक्षा से इस बात का मेल किस तरह बैठाऊँ ? गीता में तो कहा है कि फल का विचार त्याग कर कर्म करना चाहिए।

"सारे अध्याय में आपने यही दलील इस्तेमाल की है कि ब्रिटिश साम्राज्य की सहायता की जाय अथवा नहीं। और मैं समझता हूँ कि मूलत: सवाल व्यक्तिगत रूप में उठा होगा किन्तु यह इस किनारे तक ले ही जाता है कि युद्ध के रूप में युद्ध में हमें योगदान करना चाहिए या नहीं ?"

बेशक लड़ाई में योगदान के लिए मुझे प्रेरित करनेवाला उद्देश्य मिश्रित था। दो बातें मैं याद करता हूँ। यद्यपि व्यक्तिगत रूप से मैं लड़ाई के विरुद्ध था किन्तु मेरी ऐसी स्थिति नहीं थी कि मेरे विरोध का असर पड़ सके। अहिंसामय विरोध तभी हो सकता है जबकि विरोध करनेवाले ने विरोधी की पहले कुछ सच्ची निःस्वार्थ सेवा की हो, सच्चे हार्दिक प्रेम का प्रदर्शन किया हो : जैसे कि किसी जंगली आदमी को पशु का बलिदान करने से रोकने के लिए मेरी तबतक कोई स्थिति नहीं होगी, जबतक कि मेरी किसी सेवा या मेरे प्रेम के कारण वह मुझे अपना मित्र न समझ ले। दुनिया का पापों का न्याय करने मैं नहीं बैठता हूँ। स्वयं असंपूर्ण होने के कारण, और चूँकि खुद मुझी को औरों की सहनशीलता तथा उदारता की दरकार है, मैं संसार की

कचाइयों या असंपूर्णताओं को तबतक सहन करता रहता हूँ जब-तक कि उनपर प्रकाश डालने का अवसर मैं पा या बना न लूँ। मुझे लगा कि अगर मैं यथेष्ट सेवा करके वह शक्ति, वह विश्वास पैदा करलूँ कि सामाम्राज्य के युद्धों और युद्ध की तैयारियों को रोक सकूँ तो मेरे जैसे आदमी के लिए यह बड़ी अच्छी बात होगी जो खुद अपने ही जीवन में अहिंसा का व्यव-हार करना चाहता है तथा यह भी जाँचना चाहता है कि सामूहिक रूप में इसका कहाँ तक उपयोग किया जा सकता है।

दूसरा उद्देश्य साम्राज्य के राजनीतिज्ञों की सहायता से स्वराज्य की योग्यता पैदा करने का था। साम्राज्य के इस जीवन-मरण की समस्या में उसे सहायता दिये बिना यह योग्यता मुझ में आ नहीं सकती थी। यहाँ यह भी समझ लेना चाहिए कि मैं सन् १९१४ ई० की अपनी मानसिक स्थिति की बात लिख रहा हूँ जब कि मैं ब्रिटिश साम्राज्य और हिन्दुस्तान के उसके स्वेच्छा-पूर्वक सहायता देने की बात में विश्वास करता था। अगर मैं तब भी आज-जैसा अहिंसक विद्रोही होता तो अवश्य ही सहायता न देता बल्कि अहिंसा के जरिये जिस जिस तरह उनका उद्देश्य चौपट होता, करने की सभी कोशिशें करता।

युद्ध के प्रति मेरा विरोध और उसमें अविश्वास तब भी आज के ही जैसे सबल थे। मगर हमें यह मानना पड़ता है कि हम बहुत से काम करना नहीं चाहते तो भी उन्हें करते ही हैं। मैं छोटे से छोटे सजीव प्राणी को मारने के उतना ही

विरुद्ध हूँ, जितना कि लड़ाई के; किन्तु मैं निरन्तर ऐसे जीवों के प्राण इस आशा में लिये चला जाता हूँ कि किसी दिन मुझ में यह योग्यता आजायगी कि मुझे यह हत्या न करनी पड़े। यह सब होते रहने पर भी अहिंसा का हिमायती होने का मेरा दावा सही होने के लिए यह परमावश्यक है कि मैं इसके लिए सच-मुच में, जी-जान से और अविराम प्रयत्न करता रहूँ। मोक्ष अथवा शरीरी अस्तित्व की आवश्यकता से मुक्ति की कल्पना का आधार है सम्पूर्णता को पहुँचे हुए पूर्ण अहिंसक स्त्री-पुरुषों की आवश्यकता। सम्पति मात्र के कारण कुछ न कुछ हिंसा करनी ही पड़ती है। शरीररूपी सम्पत्ति की रक्षा के लिए भी चाहे कितनी थोड़ी हो, पर हिंसा तो करनी ही पड़ती है। बात यह है कि कर्त्तव्यों के धर्म संकट में से सच्चा मार्ग ढूँढ लेना सहज नहीं है।

अन्त में, गीता की उस शिक्षा के दो अर्थ हैं। एक तो यह कि हमारे कामों के मूल में कोई स्वार्थी उद्देश्य नहीं होना चाहिए। स्वराज्य लेने का उद्देश्य स्वार्थपूर्ण नहीं है। दूसरे कर्म फल का मोह छोड़ने का अर्थ यह नहीं है कि उससे अनभिज्ञ रहा जाय या उनकी उपेक्षा की जाय या उनका विरोध किया जाय। मोहरहित होने का अर्थ यह कभी नहीं है कि जिसमें अपेक्षित फल न पावे, इसलिए कर्म करना ही छोड़ दिया जाय। इसके उलटे मोह-हीनता ही इस अचल श्रद्धा का प्रमाण है कि सोचा हुआ फल अपने समय पर जरूर होगा ही।

हिन्दी 'नवजीवन' : १५ मार्च १९२८

: ५ :

युद्ध के प्रति मेरे भाव

[गांधी जी के द० अफ्रीका में बोअर युद्ध के समय तथा यूरोपियन महासमर के समय सरकार को सहायता देने के संबंध मे एक यूरोपियन रेवरेंड बी० लाइट इवोल्युशन नामक फ्रांसीसी पत्र में एक लेख लिख-कर कुछ सवाल पूछे हैं। यं० इं० में गाँधीजी उनका जवाब यों देते हैं।]

सिर्फ अहिंसा की ही कसौटी पर कसने से मेरे आचरण का बचाव नहीं किया जा सकता। अहिंसा की दृष्टि से, शास्त्र धारण कर मारनेवालों में और निःशस्त्र रहकर घायलों की सेवा करनेवालों में मैं कोई फर्क नहीं देखता। दोनों ही लड़ाई में शामिल होते हैं और उसी का काम करते हैं। दोनों ही लड़ाई के दोष के दोषी हैं। मगर इतने वर्षों तक आत्मनिरीक्षण करने के बाद भी मुझे यही लगता है कि मैं जिस परिस्थिति में था, मेरे लिए वही करना लाजिम था जो कि मैंने बोअर युद्ध, यूरोपियन महासमर, और जुलू बलवे के समय भी सन् १९०६ में किया था।

जीवन का संचालन अनेक शक्तियों के द्वारा होता है। अगर कोई ऐसा सर्वसामान्य नियम होता कि उसका प्रयोग करते ही हर प्रसंग में कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय करने के लिए क्षण मात्र भी सोचना नहीं पड़ता तो क्या ही सरलता होती! मगर मेरे जानते तो ऐसा एक भी अवसर नहीं है।

मैं स्वयं युद्ध का पक्का विरोधी हूँ इसलिए मैंने अवसर मिलने पर भी कभी मारक अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग करना नहीं सीखा है। शायद इसीलिए मैं प्रत्यक्ष नर-नाश से बच सका हूँ। मगर जबतक मैं पशुबल पर स्थापित सरकार के अधीन रहता था और उसकी दी हुई सुविधाओं का स्वेच्छा से उपयोग करता था, तबतक तो अगर वह कोई लड़ाई लड़े तो उसमें उसकी मदद करना मेरे लिए लाजिमी था। मगर जब उससे असहयोग कर लूँ और जहाँ तक अपना वश चल सके, उसकी दो सुविधाओं का त्याग करने लगूँ तब उसकी मदद करना मेरे लिए लाजिमी नहीं रहता।

एक उदाहरण लीजिए: मैं एक संस्था का सभ्य हूँ। उस संस्था के कुछ खेती है। अब आशंका है कि उस खेती को बंदर नुकसान पहुँचावेंगे। मैं मानता हूँ कि सभी प्राणियों में आत्मा है और इसलिए बंदरों को मारना हिंसा समझता हूँ। मगर फस्ल को बचाने के लिए बंदरों पर हमला करने को कहने या करने से मैं नहीं झिझकता। मैं इस बुराई से बचना चाहूँगा। उस संस्था को छोड़कर या तोड़कर मैं इस

बुराई से बच सकता हूँ। मगर मैं यह नहीं करता क्योंकि इसकी मुझे आशा नहीं है कि यहाँ से हटने पर मुझे कोई ऐसा समाज मिल सकेगा जहाँ खेती न होती हो इसलिए किसी किस्म के प्राणियों का कभी नाश न होता हो। इसलिए यद्यपि यह कहते हुए मुझे दर्द होता है मगर तो भी इस आशा में कि किसी दिन इस बुराई से बचने का रास्ता मुझे मिल जायगा, मैं दीनता के साथ, डरते हुए और काँपते हुए दिल से बंदरों पर चोट पहुँचाने में शामिल होता हूँ।

इसी तरह मैं तीनों युद्धों में भी शामिल हुआ था। जिस समाज का मैं एक सदस्य हूँ उससे अपना संबन्ध मैं तोड़ नहीं सकता था। तोड़ना पागलपन होता। इन तीनों अवसरों पर ब्रिटिश सरकार के साथ असहयोग करने का मेरा कोई विचार न था। अब उस सरकार के संबंध में मेरी स्थिति बिलकुल ही बदल गयी है और इसलिए उसके युद्धों में मैं भरसक अपनी खुशी से शामिल नहीं होऊँगा तथा अगर शस्त्र धारण करने या और किसी तरह से उसमें शामिल होने को बाध्य किया जाऊँ तो मैं भले ही कैद किया जाऊँ या फाँसी चढ़ा दिया जाऊँ, मगर शामिल तो नहीं ही हूँगा।

मगर इससे प्रश्न अभी हल नहीं होता। अगर यहाँ पर राष्ट्रीय सरकार हो तो मैं भले ही उसके भी किसी युद्ध में शामिल न होऊँ, मगर तो भी मैं ऐसे अवसर की कल्पना कर सकता हूँ, जब कि सैनिक शिक्षण पाने की इच्छा रखने-

वालों को वह शिक्षण देने के पक्ष में मत देना मेरा कर्तव्य हो; क्योंकि मैं जानता हूँ कि अहिंसा में जिस हद तक मेरा विश्वास है, उस हद तक इस राष्ट्र के सभी आदमी अहिंसा में विश्वास नहीं करते। किसी समाज या आदमी को बलपूर्वक अहिंसक नहीं बनाया जा सकता।

अहिंसा का रहस्य अत्यंत गूढ़ है। कभी-कभी तो अहिंसा की दृष्टि से किसी आदमी के काम की परीक्षा करना कठिन हो जाता है। उसी तरह कभी-कभी उसके काम हिंसा-जैसे भी लग सकते हैं जब कि वे अहिंसा के व्यापक से व्यापक अर्थ में अहिंसक ही हों और पीछे चलकर अहिंसक ही साबित भी हों। इसलिए उपर्युक्त अवसरों पर अपने व्यवहार के बारे में मैं सिर्फ इतना ही दावा कर सकता हूँ कि उनके मूल में अहिंसा की ही दृष्टि थी। उनके मूल में कोई बुरा राष्ट्रीय या दूसरा स्वार्थ नहीं था। मैं यह नहीं मानता कि किसी एक हित का बलिदान करके राष्ट्रीय या किसी दूसरे हित की रक्षा करनी चाहिए।

मुझे अपनी यह दलील अब और आगे नहीं बढ़ानी चाहिए। आखिर अपने विचार पूरे-पूरे प्रकट करने के लिए भाषा एक मामूली त्रुटिपूर्ण साधन मात्र है। मेरे लिए अहिंसा कुछ महज दार्शनिक सिद्धान्त भर ही नहीं है। यह तो मेरे जीवन का नियम है, इसके बिना मैं जी ही नहीं सकता। मैं जानता हूँ कि मैं गिरता हूँ। बहुत बार चेतनावस्था में ही। यह

प्रश्न बुद्धि का नहीं बल्कि हृदय का है। सन्मार्ग तो परमात्मा की सतत प्रार्थना से, अतिशय नम्रता से, आत्मविलोपन से, आत्मत्याग करने को हमेशा तैयार बैठे रहने से मिलता है। इसकी साधना के लिए ऊँचे से ऊँचे प्रकार की निर्भयता और साहस की आवश्यकता है। मैं अपनी निर्बलताओं को जानता हूँ और मुझे उनका दुःख है।

मगर मेरे मन में कोई दुविधा नहीं है। मुझे अपने कर्तव्य का स्पष्ट भान है। अहिंसा और सत्य को छोड़कर, हमारे उद्धार का कोई दूसरा रास्ता नहीं है। मैं जानता हूँ कि युद्ध एक तरह की बुराई है और शुद्ध बुराई है। मैं यह भी जानता हूँ कि एक दिन इसे बंद होना ही है। मेरा पक्का विश्वास है कि खूनखराबी या धोखेबाजी से ली गयी स्वाधीनता, स्वाधीनता है ही नहीं। इसकी अपेक्षा कि मेरे किसी काम से अहिंसा का सिद्धान्त ही गलत समझा जाय या किसी भी रूप में मैं असत्य और हिंसा का हामी समझा जाऊँ, यही हजारगुना अच्छा है कि मेरे विरुद्ध लगाये गये सभी अपराध अरक्षणीय, असमर्थनीय समझे जायँ। संसार हिंसा पर नहीं टिका है, असत्य पर नहीं टिका है किन्तु उसका आधार अहिंसा है, सत्य है।

हिन्दी 'नवजीवन' : २० सितम्बर, १९२८

: ६ :

कौनसा मार्ग श्रेष्ठ है ?

अमरीका से एक मित्र ने वहाँ के प्रसिद्ध मासिक पत्र 'दी वर्ल्ड टुमोरो' के अगस्त १६२८ के अङ्क में से जॉन नेविन के 'तलवार त्याग और राष्ट्रीय संरक्षण' शीर्षक एक शिक्षाप्रद और मार्मिक लेख की कतरन भेजी है। वह प्रत्येक देशप्रेमी के लिए पठनीय हैं। नीचे लिखे आरम्भिक वाक्यों से पाठकों को उसके सारांश का पता चलेगा—

"शान्तिवाद के सम्बन्ध में सबसे पहले यह सवाल उठता है कि इस बीसवीं सदी में, जब कि युद्ध के अस्त्र-शस्त्र इतनी अधिक सम्पूर्णता के शिखर तक पहुँच गये हैं और उनकी संहारक शक्ति इतनी ज्यादा बढ़ गई है, क्या सचमुच फौजी साधनों द्वारा राष्ट्रीय संरक्षण हो सकता है ? संभव है कि भूतकाल में फौजी साधनों की मदद से राष्ट्रीय संरक्षण हो सका होगा, मगर आज तो यह उपाय एक दम पुराना पड़ गया है और इसपर निर्भर रहना आफत मोल लेना है; क्योंकि आज हम देख सकते हैं कि जहाँ एक ओर फौजी सामान का खर्च दिन-दिन बढ़ता जाता है, तहाँ दूसरी ओर संरक्षण-

सम्बन्धी उसकी उपयोगिता भी दिन-पर-दिन घटती जाती है और आगामी दशकों में यही बात अधिकाधिक होती जायगी।

पिछले ४० वर्षों में, यानी इस पत्र के पाठकों के जीवन में ही, संयुक्तराज्य की नौसेना का सालाना खर्च डेढ़ करोड़ डालर से बढ़कर ३१ करोड़ ८ लाख डालर हो गया है। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि संयुक्त राज्य अपनी फौज और नौसेना पर चौबीस घण्टों में २० लाख डालर स्वाहा करता रहा है। 'युद्ध, मनुष्य का सबसे बड़ा उद्योग' शीर्षक एक अग्रलेख में 'न्यूयार्क टाइम्स' के मार्च १९२८ वाले अङ्क में उसके लेखक ने भली भाँति सिद्ध कर दिखाया था कि इस जमाने में फौजी लड़ाई की तैयारी ही संसार का बड़े से बड़ा उद्योग हो गया है।

मगर इसकी वजह से संसार को कितनी ज्यादा कुर्बानी करनी पड़ती है, उसका अन्दाजा अकेले डालरों के हिसाब से ही नहीं लगाया जा सकता; क्योंकि युद्ध के शस्त्र तैयार करने में रुपया तो खर्च होता ही है, मगर इसके सिवा भी, उनकी साल-सँभाल करने और फौजी सामान बनाने के लिए लोगों की एक बड़ी संख्या की जरूरत रहती है। इस तरह देशों की समस्त जनता और उनकी तमाम औद्योगिक शक्ति युद्ध की तैयारी में नष्ट होती जाती है। भूतकाल में वेतन-जीवी सिपाहियों की फौजें ही युद्ध के मैदानों में भिड़ती थीं। इसलिए उन दिनों आज की अपेक्षा लोगों के एक बहुत थोड़े हिस्से को युद्ध में हाथ बँटाना पड़ता था। मगर वर्तमान युद्धविशारद राष्ट्र की सारी जनता को युद्ध के लिए

भर्ती कर लेते हैं । फ्रांस में तो एक ऐसा क़ानून बना देने की सिफारिश की गई है, जिसकी रू से स्त्रियों का भर्ती होना भी अनिवार्य हो जाये । शान्ति के दिनों में भी पाठशालाओं में फौजी तालीम को अनिवार्य बना देने, राष्ट्रीय तालीम पर फौजी विभाग की सूक्ष्म देखरेख और प्रभुता रहने, आदि कारणों से देश के नौजवानों की मनोवृत्ति भी दिन-दिन ज्यादा युद्ध प्रिय होती जाती है । यही नहीं, बल्कि डाकघर, समाचार-पत्र, रेडियो, सिनेमा, विज्ञान, कला आदि क्षेत्रों के प्राणी भी धीरे-धीरे इसकी अधीनता में आते जाते हैं । इससे यह डर लगता है कि कहीं जगतव्यापी युद्ध की जो तैयारी और जो संगठन इस समय हो रहा है, उसके फन्दे में ये लोग भी शीघ्र ही न फँस जायें । अगर यह हुआ ही तो इसकी वजह से मानव जाति की स्वतंत्रता को, वाणी-स्वातंत्र्य और विचार-स्वातंत्र्य के जन्म-सिद्ध अधिकार और सामाजिक उन्नति को घोर आघात पहुँचेगा । अर्थात फौजी साधनों द्वारा देश के संरक्षण के लिए जो कीमत चुकानी पड़ती है, उसमें इसकी भी गिनती होनी चाहिए । इसपर से पाठक समझ सकेंगे कि फौजी तैयारी द्वारा की गई रक्षा संसार के लिए कितनी महँगी पड़ती है और भविष्य में कितनी अधिक महँगी हो पड़ेगी ।

लेकिन इससे भी अधिक चिन्ता की बात तो यह है कि फौजी साधन पर बराबर अनन्त धन-व्यय करते हुए भी आज जनता सुख की नींद नहीं सो सकती । संभव है, दस-बीस

साल तक जैसे-तैसे यह हालत निभ जाय, मगर आखिरकार तो इस नीति के कारण निस्सन्देह संसार पतन के गड्ढे में गिरकर रहेगा। कुछ समय पहले सेनेटर बोरा ने 'तैयारी के मानी' शीर्षक से लिखते हुए ससार की जनता पर दिन पर दिन बढ़नेवाले कर और सरकारी कर्ज के बढ़ते हुए बोझ की तरफ खास तौर पर ध्यान खींचा था और कहा था—'भविष्य में सरकारों को अपनी शक्ति का अधिक से अधिक उपयोग विरोधी दल के सामने लड़ने में नहीं, बल्कि अपनी रिआया की आर्थिक और राजनैतिक अशान्ति को दबाने में करना होगा।' इसका नतीजा यह होगा कि राज्य जितने बड़े पैमाने पर फौजी तैयारी करेंगे, उतनी ही उनकी हालत संकटमय बनेगी; क्योंकि सरकार और रिआया के बीच की खाई अधिक गहरी होती जायेगी और जनता में निराशा तथा असन्तोष का वातावरण भी बढ़ता ही जायगा। इस हालत को संरक्षण की तैयारी कहना 'संरक्षण' शब्द का दुरुपयोग करना है। जिसकी वजह से रिआया का आर्थिक संकट घटने के बदले बढ़ता है, वह तैयारी नहीं, बल्कि अ-तैयारी है।"

आजकल लोग सहज ही यह मान लेते हैं कि जो बात अमेरिका और इंग्लैंड के लिए उचित-अनुकूल है वही हमारे लिए भी उचित होनी चाहिए। मगर उक्त लेखक ने फौजी तैयारी के लिए आवश्यक खर्च के जो चौंकानेवाले आँकड़े दिये हैं उनसे सचमुच हमें सावधान हो जाना चाहिए। आजकल की युद्ध-कला

केवल घातक शस्त्रों को बनानेवाली कला-मात्र रह गई है। उसमें वीरता, शौर्य या सहनशक्ति को बहुत ही थोड़ा स्थान प्राप्त है। हजारों स्त्री, पुरुष और बालकों को बटन दबाकर या ऊपर से जहर बरसाकर निमिष मात्र में नामशेष कर देना—मार डालना ही वर्तमान युद्ध-कला की पराकाष्ठा है।

क्या हम भी अपने संरक्षण के लिए इसी पद्धति का अनुकरण किया चाहते हैं ? हमें इसपर विचार करना होगा कि क्या हमारे पास इस संरक्षण के लिए काफी आर्थिक साधन या शक्ति है ? हम दिन-दिन बढ़ते जानेवाले फौजी खर्च की शिकायत करते हैं, मगर यदि हम इंग्लैंड या अमेरिका की नक़ल करने लगेंगे तो हमारा फौजी खर्च आज से कहीं अधिक बढ़ जायगा।

आलोचक शायद पूछेंगे कि अगर किसी चीज के लिए यह संरक्षण आवश्यक ही हो तो उतना भार उठाकर भी उसकी रक्षा क्यों न की जाये ? लेकिन बात तो यह है कि दुनिया आज इस गम्भीर सवाल का जवाब खोजने लगी है कि यह संरक्षण कर्त्तव्य है अथवा नहीं ? उक्त लेखक जोरदार शब्दों में जवाब देते हुए कहते हैं—'किसी भी राज्य के लिए यह कर्त्तव्य नहीं'। अगर यह नियम सही-सच्चा हो तो हमें भी सेना को बढ़ाने के झंझट में न फँसना चाहिए। इसका यह अर्थ नहीं होता कि कोई हमसे ज़बरदस्ती से शस्त्र छीन ले। यह संभव नहीं कि कोई परदेशी सरकार अपनी शासित जनता से बलात् अहिंसा का पालन करा सके। हर एक देश की प्रजा को स्वेच्छापूर्वक आत्म विकास

करने की पूरी-पूरी स्वतंत्रता होनी चाहिए। हमें यहाँ इस बात पर विचार करना है कि क्या हम पाश्चात्य देशों की नकल-भर करना चाहते हैं ? वे आज जिस नरक में से गुज़र रहे हैं क्या हम भी उसी रास्ते जाना चाहते हैं ? और फिर भी आशा रखते हैं कि भविष्य में किसी समय हम पुनः दूसरे पथ के पथिक बन जायेंगे ? या हम अपने सनातन शान्ति-पथ पर दृढ़ रहकर ही स्वराज्य पाना और दुनिया के लिए एक नया मार्ग खोज निकालना चाहते हैं ?

तलवार-त्याग की इस नीति में भीरुता को कहीं कुछ भी स्थान नहीं है। अपने संरक्षण के लिए हम अपना शस्त्रबल बढ़ावें और मारक शक्ति में वृद्धि भी करें, तो भी अगर हम दुःख सहने की अपनी ताकत नहीं बढ़ाते, तो यह निश्चय है कि हम अपनी रक्षा कदापि न कर सकेंगे। दूसरा मार्ग यह है कि हम दुःख सहन करने की ताकत बढ़ाकर विदेशी शासन के चंगुल से छूटने का प्रयत्न करें। दूसरे शब्दों में, हम शान्तिमय तपश्चर्या का बल प्राप्त करें। इन दोनों तरीकों में वीरता की समान आवश्यकता है। यही नहीं, बल्कि दूसरे में व्यक्तिगत वीरता के लिए जितनी गुंजाइश है, पहले में उतनी नहीं। दूसरे पथ के पथिक बनने से भी थोड़ी-बहुत हिंसा का डर तो रहता ही है, मगर यह हिंसा मर्यादित होगी और धीरे-धीरे इसका परिमाण घटता जायेगा।

आजकल हमारा राष्ट्रीय ध्येय अहिंसा का ध्येय है। मगर मन

और वचन से तो हम मानों हिंसा ही की तैयारी करते हैं। सारे देश में अधीरता का वातावरण फैला हुआ है, ऐसे समय हमारे हिंसा में प्रवृत्त न होने का एकमात्र कारण हमारी अपनी कमजोरी है। ज्ञान और शक्ति का भान होते हुए भी तलवार-त्याग करने में ही सच्ची अहिंसा है। मगर इसके लिए कल्पना-शक्ति और जगत की प्रगति के रुख को पहचानने की शक्ति होनी चाहिए। आज हम पश्चिमी देशों की बाहरी तड़क-भड़क से चौंधिया गये हैं, और उनकी उन्मत्त प्रवृत्तियों को भी प्रगति का लक्षण मान बैठे हैं। फलस्वरूप हम यह नहीं देख पाते कि उनकी यह प्रगति ही उन्हें विनाश की ओर ले जा रही है। हमें समझ लेना चाहिए कि पाश्चात्य लोगों के साधनों द्वारा पश्चिमी देशों की स्पर्धा में उतरना अपने हाथों अपना सर्वनाश करना है। इसके विपरीत अगर हम यह समझ सकें कि इस युग में भी जगत् नैतिक बल पर ही टिका हुआ है, तो अहिंसा की असीम शक्ति में हम अडिग श्रद्धा रख सकेंगे और उसे पाने का प्रयत्न कर सकेंगे। सब कोई इस बात को मंजूर करते हैं कि अगर सन १६२२ में हम अन्त तक शान्तिपूर्ण वातावरण बनाये रखने में सफल होते तो हम अपने ध्येय को सम्पूर्ण सिद्ध कर सकते। फिर भी हम इस बात की जीती-जागती मिसाल तो पेश कर ही सके थे कि नगण्य-सी अहिंसा भी कितनी असाधारण हो सकती है। उन दिनों हमने जो उन्नति की थी, आज भी उसका प्रभाव क़ायम है। सत्याग्रह-युग के पहले की भीरुता आज हम में नहीं

है। वह सदा के लिए मिट गई है। अगर हम अहिंसा-बल पाने की इच्छा रखते हैं तो हमें धैर्य से काम लेना होगा, समय की प्रतीक्षा करनी होगी। यानी, अगर सचमुच ही हम अपनी रक्षा करना चाहते हों और संसार की प्रगति में स्वयं भी हाथ बँटाने की इच्छा रखते हों, तो उसके लिए तलवार-त्याग, पशुबल-त्याग के सिवा दूसरा कोई रास्ता है ही नहीं।

हिन्दी 'नवजीवन' : ५ सितम्बर, १९२६

: ७ :

अहिंसक की विडम्बना

बी० द लाइट नामक हालैण्ड के एक लेखक ने अहिंसा-सम्बन्धी विचारों के बारे में एक लम्बा पत्र कुछ महीने पहले लिखा था। लेखक यूरोप के अहिंसावादियों में से एक हैं और जुलू विद्रोह और बोअर युद्ध में गांधीजी ने जो भाग लिया था उसके और पिछले युद्ध के समय जो रँगरूटों की भरती की थी उसके बारे में उन्होंने कड़ी आलोचना की थी। अब उन्होंने गांधीजी को दूसरा पत्र लिखा है। उसका सार नीचे दिया जाता है। गांधीजी ने 'यंगइंडिया' में जो उत्तर दिया वह भी इसीके साथ दिया जाता है। पत्र इस प्रकार है —

"पूज्य गांधीजी

आपके अहिंसा-सम्बन्धी विचारों पर मैं जैसे-जैसे विचार करता जाता हूँ वैसे-वैसे मुझे ऐसा लगता है कि आपने अपने देश की दृष्टि से ही इस सम्बन्ध में विचार किया है, सारी दुनिया की दृष्टि से विचार नहीं किया है। उदाहरण के लिए नेहरू-रिपोर्ट को आप स्वीकार करते हैं। उसमें जो विधान

बनाया गया है उसको आपने कबूल किया है और उसके अन्तर्गत देश की रक्षा की व्यवस्था भी आपने स्वीकार की है। डोमीनियन स्टेटस की यह सारी रचना ही ऐसी है कि इसमें आपके देश के गरीबों का ही शोषण होनेवाला है; क्योंकि अगर ऊपर के वर्ग के हाथ में राजसत्ता आये तो वह वर्ग ऊपर के वर्ग के विदेशियों के साथ रहकर अपनी शासन-पद्धति तय करेगा। आपके देश को भी अपनी रक्षा के लिए जल, स्थल और वायु-सेना की आवश्यकता होगी ऐसा जब आप कहते हैं तब तो हो चुका। दूसरे देशों में आपस में शस्त्रास्त्र की जो प्रतियोगिता चल रही है उसे आपका देश भी उत्तेजन देगा। मुझे ऐसा लगता है कि ऐसी हालत में टॉलस्टॉय ने, जिनके कि अहिंसा के विचार आपको पसंद हैं, अलग ही रास्ता लिया होता।

लड़ाई ऐसी भयानक वस्तु है कि उसका उपयोग राष्ट्र-रक्षा के लिए ही नहीं बल्कि समाज-रक्षा के लिए भी बन्द होना ही चाहिए। आज तो ऐसी स्थिति आ गई है कि प्रत्येक देश के अहिंसावादी स्त्री-पुरुषों को अपनी यह प्रतिज्ञा प्रकट करनी चाहिए कि "हम किसी भी अवस्था में युद्ध के किसी भी साधन को तैयार करने में या उपयोग में लाने में भाग न लेंगे और ऐसा प्रयत्न करेंगे कि ऐसे साधनों की उत्पत्ति और उपयोग बन्द होते जायें। सच पूछिए तो लड़ाई और हिंसा के साधनों से हमारे देश को स्वतंत्रता मिले इसकी अपेक्षा

वह स्वतंत्रता—जो कि दिन पर दिन केवल नाम मात्र की ही होती जाती है—खो देना ज्यादा पसंद करेंगे।

आपका देश 'डोमीनियन स्टेटस' प्राप्त करेगा—इसका यह अर्थ हुआ कि उसे साम्राज्य के अन्तर्गत रहना पड़ेगा। और वह सशस्त्र होगा यानी उसके लिए उसे विदेशी धन, विदेशी बैंक आदि के ऊपर आधार रखना पड़ेगा और परदेशी धनिक आज विश्व का साम्राज्य प्राप्त करने को जूझ रहे हैं यह आप जानते ही हैं? यानी आज राष्ट्रीयता का आदर्श रखने और संपादन करने में एक बड़ा भारी जोखिम है। आज तो सारी पीड़ित प्रजा और कौमों का संगठन करके पीड़क प्रजा के पंजे में से उसे मुक्त करने की लड़ाई लड़नी चाहिए।

लेकिन पूज्य गांधीजी, आज तो आप केवल अपने ही देश का विचार कर रहे हैं। आपका देश गुलामी के बन्धन में से मुक्त हो यह तो हम भी चाहते हैं; क्योंकि हमारे राज्य ने काले लोगों पर जो अत्याचार किये हैं उससे काले लोग मुक्त हों यह हम चाहते ही हैं। परन्तु विदेशी-राज्य के पंजे से छूटने के लिए आप भी जब ऐसे साधनों का उपयोग करें कि जिनके दुरुपयोग होने की पूरी संभावना है, तब तो हमें भी उसका विरोध करना पड़ता है। आप कहते हैं कि आज तक भारत को जबर्दस्ती दूसरे देशों को लूटने-वाली कई लड़ाइयों में भाग लेना पड़ा है। तब आपसे यह कहने की इच्छा होती है कि "नहीं, आप भर इसके लिए जिम्मेदार हैं। आप अगर इन लड़ाइयों से दूर रहना चाहते तो रह सकते थे।"

हमें आप कहते हैं कि लड़ाई चलाने के लिए लिये जानेवाले टैक्स को देना भी लड़ाई में भाग लेने के बराबर है। आपकी बात सत्य है। हम लड़ाई में प्रत्यक्ष भाग न लेने का आंदोलन तो करते हैं पर कर न देने जितने अंश तक नहीं जा पाये हैं। यद्यपि हम-में से कुछ ने तो कर देना भी बंद किया है। लेकिन कर न दें तो सरकार हमारी जायदाद जब्त कर सकती है इस कारण यह रीति कोई बहुत कार्यसाधक तो नहीं ही है।

चाहे जो हो, गोरे लोग काले लोगों को जिस प्रकार लूट रहे हैं उसमें से कालों को छुडाने की आपकी इस लड़ाई में तो हम आपके साथ ही हैं। चूहे और बिल्ली का जैसा सम्बन्ध तो सारे देश में बन्द ही होना चाहिए। लेकिन चूहा — चूहा मिटकर कुत्ता बने और बिल्ली के ऊपर सिरजोरी करे यह भी कोई ऐसी स्थिति नहीं है जिसे पसन्द किया जाये। इसीलिए हम अपने ही लोगों से नहीं बल्कि दूसरे लोगों को भी हिंसा मात्र से दूर रहने के लिए कहते हैं। अहिंसा के व्यावहारिक उपयोग समझाने में आपने कुछ कम भाग नहीं लिया है।

ग्रेट ब्रिटेन का हृदय परिवर्तन करने की आप आशा रखते हों तो आज की कहे जानेवाली समाजवादी ब्रिटिश सरकार के साथ सहयोग करके आप ऐसा नहीं कर सकेंगे। ब्रिटेन के युद्ध-विरोधी मंडलों के साथ सहयोग करके ही आप ऐसा कर सकेंगे। मैकडॉनल्ड के मंत्रिमंडल ने अपने ही देश के लोगों को सताने में क्या कसर रखी है ? आपके सामने भले ही वे दिखावटी तौर पर विनय-विवेक

से काम लें, आपको शोभा-स्वरूप उपदेश दें पर तत्त्व की चीज कुछ न देंगे। आपने हमेशा मुझे आपकी आलोचना करने की छूट दी है इसलिए इतना लिखने की धृष्टता करता हूँ। चाहे जो हो आज विश्वजीवन इतना अखंड हो गया है कि राष्ट्र के हित की दृष्टि से भले विचार न करें पर विश्व की दृष्टि से तो जरूर विचार किया जा सकता है।"

रेवरेण्ड बी० द लाइट का पत्र पाठकों के पढ़ने योग्य है। अहिंसा के शोधक और साधक को ऐसे पत्र का स्वागत करना चाहिए। इसपर आदरपूर्वक विचार करना चाहिए। मित्रभाव से ऐसी चर्चा करने से अहिंसा की शक्ति और मर्यादाओं का अधिक स्पष्ट ध्यान आ सकता है।

मनुष्य चाहे जितने तटस्थ-भाव से विचार करने का प्रयत्न करे तो भी वह अपने वर्तमान वातावरण और पूर्व संस्कार से एक दम अलग रहकर विचार नहीं कर सकता। दो जुदी-जुदी स्थिति में रहते हुए व्यक्तियों की अहिंसा बाह्य रीति से एक ही स्वरूप की न होगी। उदाहरणार्थ क्रोधी पिता के सामने बालक पिता की हिंसा को ध्यानपूर्वक सहन करने ही अपनी अहिंसा बता सकता है। परन्तु बालक ने क्रोध किया हो तो पिता बालक के समान नहीं बरतेंगे। ऐसे बरताव का कोई अर्थ ही नहीं होगा। पिता तो बालक को अपनी छाती से लगाकर बालक की हिंसा को एक दम निष्फल कर देगा। दोनों प्रसंगों के बारे में मान लिया गया है कि दोनों का बाह्य कृत्य अपनी आंतरिक इच्छा का प्रतिबिंब है। इसके विरुद्ध

कोई मनुष्य अपने हृदय में बैर रखकर केवल वणिक-बुद्धि से सामनेवाले की हिंसा के वश हो जाये तो वह सच्चा अहिंसक नहीं कहा जा सकता। और अगर वह अपना इरादा गुप्त रखे तो दंभी भी कहा जायेगा। फिर यह भी याद रखना चाहिए कि अहिंसा का प्रयोग तो तभी हो सकता है जबउसे हिंसा का मुकाबिला करना हो। प्रतिहिंसा की जहाँ हस्ती ही नहीं है वहाँ अहिंसक रहनेवाला अपनी अहिंसक निष्चेष्टता के लिए यश प्राप्त नहीं कर सकता; क्योंकि जहाँ सामने हिंसा खड़ी न हो वहाँ अहिंसा की परीक्षा कैसे हो सकती है ?

'डोमीनियन स्टेटस' की तो बात ही अब उड़ गई है, इसलिए उससे पैदा होनेवाले मुद्दों पर चर्चा करने की कोई ज़रूरत नहीं है। हाँ, इतना कह सकते हैं कि अगर भारत ने सच्चा 'डोमीनियन स्टेटस' प्राप्त किया होता तो साम्राज्य के अधीन रहने के बदले समान यानी संख्या बढ़ने के कारण एक बड़े भागीदार जैसा भागीदार बनता और ग्रेट ब्रिटेन की विदेशी नीति तय करने में वह प्रधान हिस्सा लेता।

नेहरू-रिपोर्ट को मैंने सामान्य रूप में हृदय से स्वीकार किया है इससे यह नहीं मान लेना चाहिए कि उसके प्रत्येक शब्द को मैंने स्वीकार किया है। भावी स्वतंत्र भारत की रक्षा के लिए जो व्यवस्था होगी उस सबको मेरी सहमति होगी यह मान लेने की भी ज़रूरत नहीं है। भारत जिस दिन स्वतंत्र होगा

उस समय जो प्रश्न पैदा होंगे उसके बारे तो आज से ही अपने देशभाइयों के साथ लड़ाई करने के लिए मेरे अन्दर की अहिंसा मुझे रोक रही है। भविष्य के बर्ताव के बारे में आज चर्चा करना निरर्थक है। ऐसा करने में व्यर्थ के मतभेद पैदा होंगे, जहर बढ़ेगा और उतने अंश में अहिंसा को भी धक्का लगेगा। यह भी बहुत सम्भव है कि आज़ादी की लड़ाई समाप्त होने बाद भी अगर मैं जीता रहा तो मुझे अपने देशभाइयों के साथ भी कई प्रसंगों पर अहिसक लड़ाई लड़नी पड़े। और जैसी आज मैं लड़ रहा हूँ वैसी ही भयंकर हो। परन्तु यदि इच्छापूर्वक अहिसक साधनों की खोज करके उनका उपयोग करने से हमने स्वराज्य प्राप्त किया है यह सिद्ध हो जाये तो आज बड़े-बड़े नेता लोग जो फौजी योजनाएँ तैयार कर रहे हैं वे उनको एक दम अनावश्यक लगेंगी ऐसा बहुत सम्भव है।

आज तो अपने देशबन्धुओं से मेरा सहयोग गुलामी की बेड़ियाँ तोड़ने तक ही सीमित है। वह बेड़ी तोड़ने के बाद हमारी कैसी दशा होगी और हम क्या करेंगे इसकी बात न मैं ही कुछ कर सकता हूँ न वे ही। मेरी जगह टॉल्स्टॉय दूसरी तरह बरतते या नहीं इसका तर्क करना निरर्थक है। मैं तो आज अपने यूरोपियन मित्रों को इतना ही विश्वास दिला सकता हूँ और वह काफी है कि मैंने अपने किसी भी कृत्य से जान-बूझकर हिंसा का समर्थन नहीं किया और अपने अहिंसा-धर्म को कालिख नहीं लगाई।

बोअर युद्ध में और जुलु बलवे के समय ब्रिटेन के साथ रह-कर जो मैंने हिंसा का स्पष्ट अङ्गीकार किया था वह भी सिर पर आ पड़ी हुई अनिवार्य स्थिति में अहिंसा के लिए ही किया था। परन्तु यह भी संभव है कि वह अङ्गीकार या सहयोग अपनी कमजोरी के कारण अथवा अहिंसा के विश्वधर्मत्व के अपने अज्ञान के कारण मैंने किया हो। हालाँकि मेरी आत्मा ऐसा नहीं कहती कि उस समय या आज भी किसी कमजोरी या अज्ञान के वश होकर मैंने ऐसा किया था।

अगर हिंसा के ऊपर आधार रखनेवाले किसी तंत्र के आधीन अनिच्छापूर्वक होना पड़े तो उसमें परोक्ष भाग लेने के बदले प्रत्यक्ष भाग लेना ही अहिंसावादी पसन्द करेगा। अमुक अंश में हिंसा पर आधार रखनेवाले जगत में मैं रहा हूँ; अगर मेरे पड़ो-सियों का संहार करने के लिए जो सेना रखी जाती है उसके लिए कर देने या सेना में भरती होने इन दो बातों में से अगर मुझे एक चुनना हो तो हिंसा की ताकत पर अंकुश प्राप्त करने के लिए और अपने साथियों का हृदय-परिवर्तन करने की आशा में मैं सेना में भरती होना ज्यादा पसन्द करूँगा, बल्कि ऐसा किये बिना मेरी कोई गति नहीं। और ऐसा करते हुए मैं नहीं मानता कि मेरे अहिंसा-धर्म में कोई बाधा आती है।

राष्ट्रीय स्वतंत्रता कोई आकाश-कुसुम नहीं है, व्यक्तिगत स्वतंत्रता जितनी ही वह भी आवश्यक है। पर अगर दोनों अहिंसा पर अवलम्बित हों तो दूसरे राष्ट्र अथवा दूसरे व्यक्ति की

इतनी ही स्वतंत्रता के लिए वह नुकसानदेह साबित न होंगे। और जो व्यक्तिगत और राष्ट्रीय स्वतंत्रता के बारे में है वही अन्तर्राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के बारे में भी है। कानून का एक सूत्र है कि अपनी स्वतंत्रता का इस प्रकार उपभोग करो कि जिससे दूसरे की स्वतंत्रता को नुकसान न पहुँचे। यह सूत्र नीति के सूत्र-जैसा ही है। 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' यह नियम भी शाश्वत है। पिंड के लिए तो एक नियम है और ब्रह्माण्ड के लिए दूसरा, ऐसी बात नहीं है।

नवजीवन : २ फरवरी, १९३०

: ८ :

विरोधाभास

एक भाई कटाक्षपूर्ण ढंग पर निम्नलिखित कई महत्त्व के प्रश्न पूछते हैं :

"जब जुलु लोगों ने उनकी स्वतन्त्रता को अपहरण करने-वाले अंग्रेज़ों का सामना किया, तब उस कथित विद्रोह को दबाने में आपने ब्रिटिश सत्ता की मदद की। विदेशी सत्ता के जुए को उतार फेंकने के लिए किये जानेवाले प्रयत्नों को क्या विद्रोह का नाम दिया जाना चाहिए? फ्रांस की जॉन ऑव आर्क, अमेरिका के जार्ज वाशिङ्टन, आजकल के डी वेलेरा—क्या इन सभी को विद्रोही कहना चाहिए? आप कहेंगे कि जुलु लोगों ने हिंसा मार्ग को अपनाया। मैं कहता हूँ कि इस साधन को अनुपयुक्त कहा जाये तो भी क्या उनका ध्येय हीन कोटि का था? अतः मेरी यह समस्या हल कर दीजिए।

"दूसरे, गत महायुद्ध में भी जब जर्मनी और आस्ट्रिया के शूरवीर अपने विरोध में खड़ी हुई सारी दुनिया से लड़ रहे थे, उस समय भी आपने जर्मनी और आस्ट्रिया की प्रजा के विरुद्ध अंग्रेज़ों

के पक्ष में लड़ने के लिए रंगरूट भर्ती करने का आयोजन किया था। जर्मनी और आस्ट्रिया की प्रजा ने तो भारतीयों का कुछ भी नहीं बिगाड़ा था। जब दो राष्ट्रों में युद्ध प्रारम्भ हो, तब उनमें से किसी एक का पक्ष लेने का निर्णय करने के पहले मनुष्य को दोनों पक्षों की बात सुन लेनी चाहिए। गत महायुद्ध के समय तो हमारे सामने एक ही पक्ष का राग अलापा जाता था, और खुद उस राग को अलापनेवाली प्रजा भी उसकी प्रामाणिकता अथवा सचाई के विषय में कुछ असंदिग्ध न थी। सत्याग्रह और अहिंसा के शाश्वत हिमायती होकर भी आपने उन लोगों को, जो युद्ध के धार्मिक अथवा अधार्मिक होने के बारे में अँधेरे में थे, क्यों साम्राज्य तृष्णा के कीचड़ में हाथ-पाँव पीटनेवाली प्रजा की भूख शान्त करने के लिए लड़ने का प्रलोभन दिया? आप कहेंगे कि उस समय आपको ब्रिटिश नौकरशाही में श्रद्धा थी। जिस विदेशी प्रजा का एक-एक कृत्य उसके दिये हुए वचनों के सरासर विपरीत सिद्ध हुआ है, क्या उसमें श्रद्धा रखना किसी भी मनुष्य के लिए सम्भव हो सकता है? फिर आप जैसे बुद्धिमान प्रतिभाशाली पुरुष के लिए ऐसा कैसे सम्भव हो सकता है? इस दूसरी गुत्थी का भी मुझे आपके पास से उत्तर चाहिए।

"एक तीसरी बात और मुझे कहनी है। आप अहिंसावादी हैं। और आज की स्थिति में तो भले ही हमारे लिए कट्टर अहिंसावादी रहना उचित हो सकता है, किन्तु, जिस समय भारतवर्ष स्वतन्त्र होगा और यदि उस समय किसी विदेशी राष्ट्र ने हम

पर आक्रमण किया, तो क्या उस समय भी हम हथियारों को छूना पाप मानेंगे ? इसी प्रकार जब रेल, तार और जहाज इस देश के माल को विदेश भेजने के साधन न रहेंगे, तब भी क्या आप उनका बहिष्कार करने का ही प्रचार करेंगे ?"

मेरे व्यवहार में परस्पर विरोधी बातें रहती हैं, ऐसी अनेक आलोचनाएँ मैंने सुनी और पढ़ी हैं, किन्तु उन के साथ मेरे अकेले का सम्बन्ध होता है, इसलिए मैं अधिकतर उनके जवाब देने के पचड़े में नहीं पड़ता। परन्तु उपरोक्त भाई ने जो प्रश्न पूछे हैं, वे यद्यपि मेरे लिए नये नहीं हैं, तथापि सामान्य कोटि के होने के कारण उनकी यहाँ चर्चा करना उपयुक्त प्रतीत होता है।

जुलु विद्रोह के समय ही मैंने अपनी सेवाएँ ब्रिटिश सरकार को अर्पित नहीं की, बल्कि उसके पूर्व बोअर युद्ध के समय भी की थीं। और पिछले युद्ध के समय में रंगरूट भर्ती करने के लिए ही नहीं घूमा, बल्कि जब सन् १९१४ में युद्ध शुरू हुआ तो स्वयं लन्दन में मैंने घायल सिपाहियों को मदद पहुँचाने के लिए 'स्वयं-सेवक दल' का भी निर्माण किया था।

इस प्रकार यदि मैंने पाप किया है तो भरपूर किया है, इसमें कोई शक नहीं। मैंने तो प्रत्येक समय सरकार की सेवा करने के एक भी संयोग को हाथ से नहीं जाने दिया। इन सब अवसरों पर केवल दो ही प्रश्न मेरे सामने होते थे। मैं उस समय अपने को जिस सरकार का नागरिक मानता था, उसके

नागरिक की हैसियत से मेरा धर्म क्या है? दूसरे एक चुस्त अहिंसावादी की हैसियत से मेरा धर्म क्या है?

आज मैं यह जानता हूँ कि मेरी वह मान्यता ग़लत थी कि मैं सरकार का नागरिक था। परन्तु उपरोक्त चारों प्रसंगों पर मैं यह प्रामाणिकता के साथ मानता था कि अनेक बाधाओं के बीच गुजरते हुए भी मेरा देश स्वतन्त्रता की ओर प्रगति कर रहा है और व्यापक दृष्टि से देखा जाये तो लोक-दृष्टि से भी सरकार सर्वथा खराब नहीं है। इसी प्रकार ब्रिटिश अधिकारी भी स्थूल और धीमे होते हुए भी प्रमाणित हैं।

ऐसी मनोदशा होने के कारण मैंने वही करने का प्रयास किया जो कोई भी अंग्रेज़ करता। स्वतन्त्र कार्य प्रारम्भ करने जितना योग्य और मूल्यवान मैंने अपने आपको नहीं समझा। मुझे ऐसा प्रतीत नहीं हुआ कि मुझे सरकारी कर्मचारियों के निर्णयों पर न्यायाधीश बनना चाहिए। बोअर युद्ध के समय, जुलु विद्रोह के समय और पिछले महायुद्ध के समय भी मैं सरकार के मन्त्रियों में मैं दुष्ट बुद्धि का आरोप नही करता था अंग्रेज़ लोग खासकर बुरे होते हैं अथवा अन्य मनुष्यों से निम्न कोटि के होते हैं, ऐसा मैंने उस समय भी नहीं माना और न आज ही मानता हूँ। मैं उस समय भी उन्हें किसी भी प्रजा के समान उच्च, आदर्श रखने और उच्च कार्य करने योग्य और उसी प्रकार भूल कर सकनेवाले प्राणी मानता था और अब भी मानता हूँ।

इसलिए मुझे महसूस हुआ कि सरकार के संकट के क्षणों में एक मनुष्य और एक नागरिक के नाते अपनी अल्प सेवा अर्पित करके मैंने अपने धर्म का पालन किया। स्वराज्य में भी प्रत्येक देशवासी से मैं अपने देश के प्रति ऐसे ही व्यवहार की आशा रखता हूँ। यदि हर समय और हर अवसर पर प्रत्येक व्यक्ति स्वयं ही अपना क़ानून बनाने लगे और सूक्ष्म तराज़ू से अपनी भावी राष्ट्रीय महासभा के प्रत्येक कार्य को तौलने लगे तो मुझे भारी दुःख हो। मैं तो अनेक विषयों के सम्बन्ध में राष्ट्र के प्रतिनिधियों के निर्णय के आगे अपने व्यक्तिगत निर्णय को ताक में रखकर राष्ट्र की आज्ञा को सिर-माथे पर चढ़ाना पसन्द करूँ। केवल इन प्रतिनिधियों को चुनने में मैं विशेष सावधानी से काम लूँ। मैं जानता हूँ इसके अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार से प्रजाकीय सरकार एक दिन भी नहीं चलाई जा सकती।

यह तो हुई उस समय के मेरे व्यवहार की मीमांसा। किन्तु आज के विषय में क्या ?

आज मेरे सामने सारा नक़शा ही बदल गया है। मुझे प्रतीत होता है कि मेरी आँखें खुल गई हैं। अनुभव ने मुझे अधिक समझ प्रदान की है। आज मैं वर्तमान राजतन्त्र को सम्पूर्णतः विकृत तथा या तो सुधारने या दफ़ना देने योग्य समझता हूँ। इस विषय में मुझे तनिक भी शंका नहीं रह गई है कि उसके भीतर अपने आपको सुधारने की किंचित शक्ति

नहीं है। मैं मानता हूँ कि आज भी ऐसे अनेक अंग्रेज़ अधिकारी पड़े हैं जो प्रामाणिक हैं, किन्तु इससे आज हिन्दुस्तान का कुछ भला नहीं हो सकता; कारण इतने दिन मैं जिस भ्रमवश अन्धा बना हुआ था, मेरे खयाल से वे भी उसी भ्रम के शिकार हैं। अतः आज मैं इस सरकार को अपनी कहकर अथवा अपने को इसका नागरिक कहलाकर कोई अभिमान नहीं मान सकता। इसके विपरीत इस सरकार में मेरा एक अछूत का सा दर्जा है, यह मुझे सूर्य के समान स्पष्ट प्रतीत होता है, इसलिए जिस प्रकार हिन्दू जाति का एक अछूत हिन्दू धर्म अथवा हिन्दू समाज को शाप दे सकता है, उसी प्रकार मुझे भी या तो इस सरकार की कायापलट होने की नहीं तो उसके समूल नाश की प्रार्थना करनी पड़ेगी।

दूसरा अहिंसा-सम्बन्धी प्रश्न अधिक सूक्ष्म है। जहाँ मेरी अहिंसा भावना तो मुझे हमेशा हरेक प्रवृत्ति में से निकल भागने की प्रेरणा करती है, वहाँ मेरी आत्मा को जबतक दुनिया में एक भी अन्याय अथवा दुःख का असहाय साक्षी बनना पड़ता है, तबतक वह सुखी होने से इन्कार करता है। किन्तु मेरे जैसे दुर्बल अल्प जीव के लिए दुनिया का प्रत्येक दुःख मिटा सकना अथवा दिखाई पड़नेवाले प्रत्येक अन्याय के विषय में शक्ति भर कर गुजरना सम्भव नहीं। इस दुहरी खींचा-तान से मुक्त रहने का मार्ग है, किन्तु वह स्थिति बहुत धीमी गति से और अनेक व्यथाओं के बाद ही प्राप्त हो सकती है। कार्य में

प्रवृत्त होने से इन्कार करके नहीं, बल्कि बुद्धिपूर्वक निष्काम कर्म करते हुए मुझे वह मुक्ति प्राप्त करनी है। और इस लड़ाई का रहस्य ही इस बात में समाया हुआ है कि आत्मतत्त्व को मुक्त और पूर्ण स्वाधीन करने के लिए शरीर तत्व का सतत यज्ञ किया जाय।

इसके अलावा जहाँ मैं एक ओर दूसरे लोगों के समान सामान्य बुद्धिवाला अहिंसावादी नागरिक था, वहाँ बाकी के लोग वैसे अहिंसावादी न होते हुए भी सरकार के प्रति रोष और द्वेष-भाव के कारण ही उसकी मदद करने के कर्त्तव्य से विमुख थे। उनके इन्कार के मूल में उनका अज्ञान और उनकी निर्बलता थी। उनके साथी के नाते उनको सच्चे मार्ग पर लाने का मेरा धर्म था। इसलिए मैंने उनके सामने उनका प्रकट कर्तव्य उपस्थित किया। अहिंसा-तत्त्व समझाया और चुनाव करने के लिए कहा। उन्होंने वैसा ही किया और इसमें कुछ भी बुरा प्रतीत नहीं हुआ।

इस प्रकार अहिंसा की दृष्टि से भी अपने कार्य में मैं पश्चात्ताप करने जैसी कोई बात नहीं देखता। कारण स्वराज्य में भी जो लोग हथियार धारण करते होंगे उन्हें वैसा करने और देश की खातिर लड़ने के लिए कहने में मैं सकोच न करूँगा।

और इसी में लेखक के दूसरे प्रश्न का उत्तर आ जाता है। मेरी मनोभिलाषा के स्वराज्य में तो हथियारों की कहीं आवश्यकता न होगी, किन्तु आजकल के इस प्रजाकीय प्रयत्न द्वारा

वैसा हिन्दू स्वराज्य निर्माण करने की मेरी धारणा नहीं है। कारण एक तो इस वस्तु को तात्कालिक ध्येय के रूप में सफल करने के लिए आज यह प्रयत्न नहीं हो रहा है और दूसरी बात यह कि प्रजा को इसके लिए तैयार करने के लिए योग्य कार्यक्रम निश्चित करने की योग्यता मुझमें है ऐसा मैं नहीं मानता। मुझ-में अभी इतने सारे विकार और मानवी दुर्बलतायें भरी हुई हैं कि ऐसे कार्य की प्रेरणा अथवा शक्ति मैं अपने भीतर नहीं महसूस करता। मैं तो इतना ही दावा करता हूँ कि मैं अपनी प्रत्येक दुर्बलता को जीतने के लिए सतत प्रयत्नशील रहता हूँ। मुझे प्रतीत होता है कि इन्द्रियों का दमन करने की शक्ति मैंने काफी प्राप्त कर ली है। तथापि मैं यह कहने का साहस नहीं कर सकता कि मैं इस स्थिति में पहुँच गया हूँ कि मुझसे पाप हो ही नहीं सकता, इन्द्रियाँ मुझे पराजित नहीं कर सकतीं।

तो भी मैं यह मानता हूँ कि पूर्ण अवर्णनीय निष्पाप अवस्था—जिसमें मनुष्य अपनी अन्तरात्मा में अन्य सब वस्तुओं को लय करके केवल मात्र ईश्वर की उपस्थिति अनुभव करता है—प्राप्त करना प्रत्येक मनुष्य के लिए सम्भव है। मैं मानता हूँ कि यह अभी बहुत आगे की अवस्था है और इसलिए सम्पूर्ण अहिंसा का कार्यक्रम जनता के आगे रखने का मैं आज अपने को अधिकारी नहीं समझता।

इस महान तत्त्व की चर्चा के बाद रेल इत्यादि का प्रश्न तो सर्वथा गौण रह जाता है। मैंने स्वयं इन सुविधाओं का व्यक्ति-

गत उपयोग करना नहीं छोड़ा और न मेरी यह अपेक्षा है कि जनता इनका उपयोग करना छोड़ दे। मैं यह भी नहीं मानता कि स्वराज्य में इन वस्तुओं का उपयोग बन्द कर दिया जायगा। तथापि मैं इतनी आशा अवश्य रखता हूँ कि स्वराज्य में जनता यह मानना छोड़ दे कि इन साधनों में हमारी नैतिक उन्नति को आगे बढ़ानेवाला कोई विशेष गुण है अथवा यह कि वे हमारी ऐतिहासिक उन्नति के लिए भी अनिवार्य हैं। इन साधनों की आवश्यकता की पूर्ति जितना ही उपयोग किया जाय और हिन्दुस्तान के ७५ हजार गाँवों को रेल-तार के जाल से पाट देने की अभिलाषा न रखी जाये यह मैं जनता को अवश्य सलाह दूँगा।

जब स्वतन्त्रता की स्फूर्ति-द्वारा जनता तेजस्वी बन जायगी, उस समय उसे ज्ञात होगा कि ये साधन हमारी प्रगति की अपेक्षा हमारी गुलामी के लिए अधिक सहायक होने के कारण हमारे राज्यकर्ताओं के लिए जरूरी थे। प्रगति तो लँगड़ी स्त्री जैसी है। यह लँगड़ाती-लँगड़ाती कुदकती-कुदकती ही आती है, तार या रेल से उसको नहीं भेजा जा सकता।

'नवजीवन' : २० नवम्बर, १९२१

: ६ :

व्यवसाय में अहिंसा

यह अच्छी बात है कि अहिंसा के पुजारी बहुत सूक्ष्म प्रश्न खड़े करते हैं। यह आदत तारीफ़ के लायक है। इसीसे आदमी आगे बढ़ता है। लेकिन एक शर्त है। ऐसा न होना चाहिए कि दूध में पड़े कण के कारण दूध तो फेंक दें और हर घड़ी जो ज़हर पीते रहें उसकी परवाह तक न करें। ऐसे प्रश्नों से वे ही फ़ायदा उठा सकते हैं जो बड़ी बातों में सावधान रहते हैं; और भली भाँति सिद्धान्त को अमल में लाते हैं।

सूक्ष्म प्रश्न यह है कि जिस खादी भंडार में कम्बल बिकते हैं वहाँ से फौज के सिपाहियों के लिए कम्बल खरीदे गये। मुझसे भंडारवालों ने पूछा "क्या इस तरह कम्बल बेच सकते हैं ?" मैंने उत्तर दिया "बेच सकते हैं।" अगर ऐसा कर सकते हैं तो हम अहिंसक लोग हिंसक-युद्ध में सहायता नहीं देते ? एक तरह केवल सिद्धान्त से देखें तो उत्तर देना पड़ेगा कि "सहायता देते हैं।" और ऐसा उत्तर दें तो हम हिन्दुस्तान में या जिस मुल्क में युद्ध चलता हो वहाँ रह ही नहीं सकते; क्योंकि हम जो खाते हैं उससे भी लड़ाई में मदद देते हैं। रेल के सफ़र से भी देते हैं। डाक भेजते हैं तो भी देते हैं। शायद ही कोई ऐसा काम हो जिससे हम ऐसी मदद देने से बच सकें। सरकारी सिक्के के इस्तेमाल में भी मदद होती है। बात यह है कि अहिंसा जैसे

बुलन्द सिद्धान्त का सम्पूर्ण पालन कोई देहधारी कर ही नहीं सकता। यूक्लिड की रेखा लीजिए। उसकी हस्ती कल्पना में ही है। सूक्ष्म रेखा भी काग़ज़ पर खींचें तो भी उसमें कुछ न कुछ चौड़ाई होगी ही। इसलिए व्यवहार में सूक्ष्म रेखा खींचकर हम अपना काम चलाते हैं। सब सीधी दीवारें यूक्लिड के सिद्धान्त के मुताबिक टेढ़ी हैं। लेकिन हज़ारों वर्ष खड़ी रहती हैं।

ठीक यही बात अहिंसा के सिद्धान्त की है। जहाँ तक हो सके हम उसे अमल में लावें।

कम्बल बेचने की मनाही करना मेरे लिए आसान था। लाखों की बिक्री में कुछ हज़ार की बिक्री की क्या कीमत हो सकती है? लेकिन मेरी मनाही मेरे लिए शर्म की बात हो जाती; क्योंकि अपनी सच्ची राय को छिपाकर ही मैं मनाही कर सकता था। मैं कहाँ-कहाँ मनाही की हद बाँधूँ? मैं चावल-दाल का व्यापारी होकर, सिपाहियों को चावल-दाल न बेचूँ? गंधी होकर, कुनैन या अन्य दवाइयाँ न बेचूँ? न बेचूँ तो क्यों नहीं? मेरी अहिंसा मुझे ऐसे व्यापार के लिए बाध्य करती है? मैं ग्राहक की जात-पाँत खोजकर मर्यादा बाधूँ? उत्तर है कि मेरा व्यापार अगर समाज का पोषक है, हिंसक नहीं है, तो मुझे उसे करने में ग्राहकों की जात-पाँत की खोज करने का अधिकार नहीं है। अर्थात् सिपाही को भी अपने व्यापार की वस्तु बेचना मेरा धर्म है।

सेवाग्राम में, १८-९-४१ (चर्खा-द्वादशी)

सस्ता साहित्य मंडल

'सर्वोदय साहित्य माला' की पुस्तकें

[नोट—× चिन्हित पुस्तकें अप्राप्य हैं]

१—दिव्य जीवन	।=)	२२—अँधेरे में उजाला	॥)
२—जीवन-साहित्य	१।)	२३—स्वामीजी का बलिदान×	।-)
३—तामिल वेद	॥।)	२४—हमारे ज़माने की गुलामी×	।)
४—व्यसन और व्यभिचार	॥।)	२५—स्त्री और पुरुष	॥)
५—सामाजिक कुरीतियाँ×	॥।)	२६—घरों की सफ़ाई	।=)
६—भारत के स्त्री-रत्न×	३)	२७—क्या करें ?	१।)
७—अनोखा×	१।=)	२८—हाथ की कताई-बुनाई×	॥-)
८—ब्रह्मचर्य विज्ञान	॥=)	२९—आत्मोपदेश×	।)
९—यूरोप का इतिहास×	२)	३०—यथार्थ आदर्श जीवन×	॥।-)
१०—समाज-विज्ञान	॥।)	३१—जब अंग्रेज़ नहीं आये थे	=)
११—खद्दर का सम्पत्ति शास्त्र×	॥।≡)	३२—गंगा गोविंदसिंह×	॥=)
१२—गोरों का प्रभुत्व×	॥।=)	३३—श्रीरामचरित्र×	१।)
१३—चीन की आवाज़×	।-)	३४—आश्रम-हरिणी×	।)
१४—दक्षिण अफ्रीका का सत्याग्रह	१॥)	३५—हिंदी मराठी कोष×	२)
१५—विजयी बारडोली×	२)	३६—स्वाधीनता के सिद्धान्त×	॥)
१६—अनीति की राह पर	॥=)	३७—महान् मातृत्व की ओर×	॥।)
१७—सीता की अग्नि-परीक्षा×	।-)	३८—शिवाजी की योग्यता×	।=)
१८—कन्या-शिक्षा	।)	३९—तरंगित हृदय	॥)
१९—कर्मयोग	।=)	४०—नरमेध×	१॥)
२०—कलवार की करतूत	=)	४१—दुखी दुनिया	।=)
२१—व्यावहारिक सभ्यता	॥)	४२—ज़िन्दा लाश×	॥)
		४३—आत्मकथा (गांधीजी) १)	१।)

९३—हमारे गाँव और किसान ॥)
९४—गांधी-अभिनन्दन-ग्रंथ१।)२)
९५—हिन्दुस्तान की समस्यायें १)
९६—जीवन-संदेश ॥)
९७—समन्वय २)
९८—समाजवाद : पूँजीवाद ।॥)
९९—मेरी मुक्ति की कहानी ॥)
१००—खादी-मीमांसा १॥)
१०१—बापू ॥=) १।) २)
१०२—बिनोबा के विचार ॥)
१०३—लड़खड़ाती दुनिया ।॥)
१०४—सेवाधर्म : सेवामार्ग १)
१०५ - दुनिया की शासन-प्रणालियाँ १॥)
१०६—डायरी के पन्ने ।॥)
१०७—तीस दिन १॥)
१०८—युद्ध और अहिंसा ।॥)
१०९—महावीर-वाणी ।॥)
११०—भारतीय संस्कृति और नागरिक जीवन १॥)

नवजीवनमाला

१—गीताबोध -)
२—मंगल प्रभात -)
३—अनासक्तियोग =), ≡), ।)
४—सर्वोदय ।-)
५—नवयुवकों से दो बातें -)
६—हिन्द-स्वराज्य ≡)
७—छूतछात की माया× (अप्राप्य) =)
८— किसानों का सवाल =)
९—ग्राम-सेवा =)
१०—खादी और खादी की लड़ाई =)
११—मधुमक्खी-पालन× =)
१२—गाँवों का आर्थिक सवाल ≡)
१३—राष्ट्रीय गीत =)
१४—खादी का महत्त्व -)॥
१५—जब अंग्रेज़ नहीं आये थे ≡)
१६—सोने की माया -)
१७—सत्यवीर सुकरात -)

सामयिक साहित्य माला

१—कांग्रेस-इतिहास (१९३५-३९)× ।-)
२—दुनियाका रंगमंच× =)
३—हम कहाँ हैं ? =)
४—युद्ध-संकट और भारत ।)
५—सत्याग्रह : क्यों, कब और कैसे ? ≡)
६—राष्ट्रीय पंचायत ।)
१—देशी राजाओं का दरजा ।)
२—यूरोपीय युद्ध और भार)त =